ISSN NUMBER : 2455-9717
RNI NUMBER :- MPHIN/2016/67929

शिवना साहित्यिकी

वर्ष : 2, अंक : 7
अक्टूबर-दिसम्बर 2017
मूल्य : 50 रुपये

जीवन भर का उजाला / सुरजन परोही

मिट्टी का सृष्टिकर्ता मैं, मेरी सृष्टिकर्ता मिट्टी
मैं मिट्टी को रौंदता, गढ़ता-रचता;
मिट्टी मुझे, मेरे जीवन को।
मिट्टी मुझमें सनी है, मैं माटी से सना हूँ
जीवन-भर दीया और घड़ा बनाते हुए
जीवन के अंत में जाना
दीया– प्रकाश के लिए
तो घड़ा - चिता की राख के लिए
माटी की देह माटी से रचती है,
माटी में रचती है, जीवन भर का उजाला
जो चिता के उजाले की अंतिम लौ बन पाती है।
देह माटी भी अंतिम दिन
कुम्हार काल के हाथों दीया बन जाती है
और वह देता है– चिताग्नि, मुखाग्नि
जिसके उजाले में दिखता है - सत्य का उजाला

शिवना प्रकाशन : नए सेट की पुस्तकें

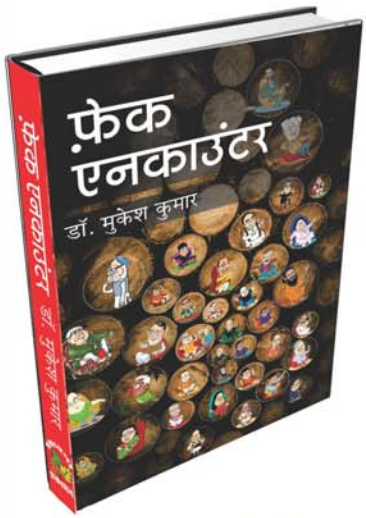

सुप्रसिद्ध पत्रकार डॉ. मुकेश कुमार द्वारा समय-समय पर साक्षात्कार के रूप में लिखे गए व्यंग्य लेखों का संग्रह-
फ़ेक एनकाउंटर
मूल्य : 300 रुपये
पेपरबैक संस्करण

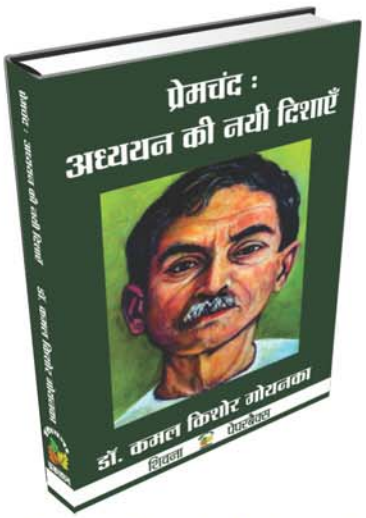

प्रेमचंद साहित्य के विशेषज्ञ डॉ. कमल किशोर गोयनका द्वारा प्रेमचंद के जीवन पर एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक-
प्रेमचंद: अध्ययन की नई दिशाएँ
मूल्य : 475 रुपये
पेपरबैक संस्करण

हिन्दी की महत्त्वपूर्ण कहानीकार, उपन्यासकार डॉ. सुधा ओम ढींगरा की नई कहानियों का संग्रह-
सच कुछ और था...
मूल्य : 250 रुपये
सजिल्द संस्करण

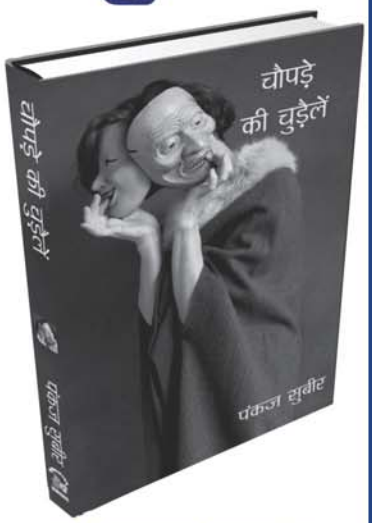

चर्चित कहानीकार तथा उपन्यासकार पंकज सुबीर की नौ नई कहानियों का संकलन-
चौपड़े की चुड़ैलें
मूल्य : 250 रुपये
सजिल्द संस्करण

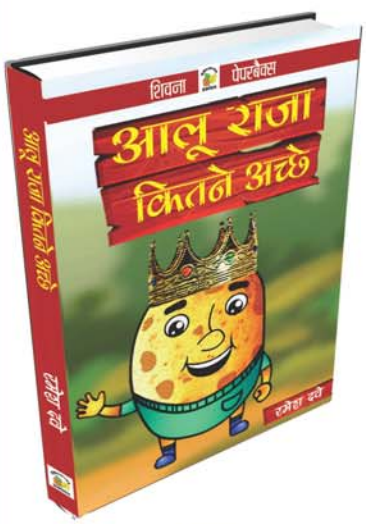

वरिष्ठ आलोचक तथा कथाकार रमेश दवे द्वारा लिखी गई बाल कहानियों का संग्रह-
आलू राजा कितने अच्छे
मूल्य : 49 रुपये
पेपरबैक संस्करण

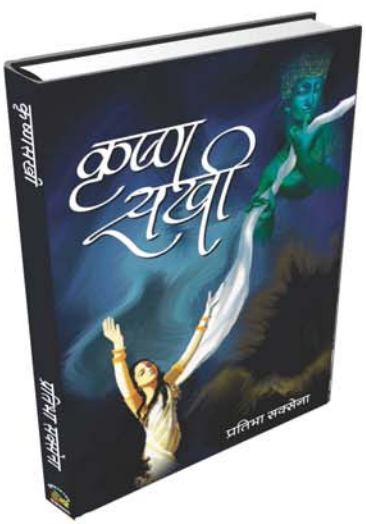

प्रतिभा सक्सेना का श्रीकृष्ण तथा द्रोपदी पर केंद्रित पौराणिक पृष्ठभूमि पर रचित उपन्यास-
कृष्णा सखी
मूल्य : 375 रुपये
पेपरबैक संस्करण

उर्दू के मशहूर शायर प्रो. मुज़फ़्फ़र हनफ़ी की चुनिंदा ग़ज़लों का संग्रह देवनागरी लिपि में-
ग़ज़ल दस्ता
मूल्य : 220 रुपये
पेपरबैक संस्करण

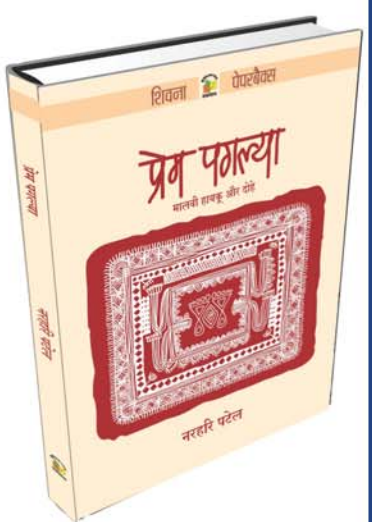

मालवी बोली के वरिष्ठ साहित्यकार श्री नरहरि पटेल के मालवी हायकु और दोहों का संग्रह-
प्रेम पगल्या
मूल्य : 200 रुपये
पेपरबैक संस्करण

शिवना प्रकाशन
शिवना प्रकाशन, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने सीहोर, मध्य प्रदेश 466001
फोन : 07562-405545, 07562-695918
मोबाइल : +91-9806162184 (शहरयार)
ईमेल : shivna.prakashan@gmail.com
http://shivnaprakashan.blogspot.in
https://www.facebook.com/shivna.prakashan

शिवना प्रकाशन की पुस्तकें सभी प्रमुख ऑनलाइन शॉपिंग स्टोर्स पर

amazon http://www.amazon.in
flipkart.com http://www.flipkart.com
paytm https://www.paytm.com
ebay http://www.ebay.in

दिल्ली में पुस्तकें प्राप्त करें : हिन्दी बुक सेंटर, 4/5 आसफ अली रोड
फोन : 011-23286757 http://www.hindibook.com

शिवना साहित्यिकी

वर्ष : 2, अंक : 7

त्रैमासिक : अक्टूबर-दिसम्बर 2017

RNI NUMBER :- MPHIN/2016/67929

ISSN : 2455-9717

संरक्षक एवं सलाहकार संपादक

सुधा ओम ढींगरा

●

प्रबंध संपादक

नीरज गोस्वामी

●

संपादक

पंकज सुबीर

●

कार्यकारी संपादक

शहरयार

●

सह संपादक

पारुल सिंह

●

आवरण चित्र

राजेंद्र शर्मा बब्बल गुरु

●

डिज़ायनिंग

सनी गोस्वामी

●

संपादकीय एवं व्यवस्थापकीय कार्यालय

पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6

सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट

बस स्टैंड के सामने, सीहोर, म.प्र. 466001

दूरभाष : 07562405545, 07562695918

मोबाइल : 09806162184 (शहरयार)

ईमेल : shivna.prakashan@gmail.com

ऑनलाइन 'शिवना प्रकाशन'

http://shivnaprakashan.blogspot.in

फेसबुक पर 'शिवना प्रकाशन'

https://facebook.com/shivna prakashan

●

एक प्रति : 50 रुपये, (विदेशों हेतु ५ डॉलर $5)

सदस्यता शुल्क

200 रुपये (एक वर्ष), 400 रुपये (दो वर्ष)

1000 रुपये (पाँच वर्ष), 3000 रुपये (आजीवन)

बैंक खाते का विवरण :

Name: Shivna Sahityiki

Bank Name: Bank Of Baroda

Branch: Sehore (M.P.)

Account Number: 30010200000313

IFSC Code: BARB0SEHORE

कुछ यूँ...

आवरण कविता

जीवन भर का उजाला / सुरजन परोही

संपादकीय / शहरयार / 4

व्यंग्य चित्र / काजल कुमार / 5

आलोचना

आलोचना में संप्रेषण का प्रश्न
पंकज पराशर / 6

संस्मरण आख्यान

होता है शबोरोज़ तमाशा मिरे आगे
सुशील सिद्धार्थ / 8

विमर्श

स्वातंत्र्योत्तर आदिवासी काव्य में समाज और संस्कृति / रजनी मल्होत्रा / 12

संस्मरण

इन्डियन फ़िल्में और लड़कियाँ
सबूहा ख़ान / 17

फिल्म समीक्षा के बहाने

लिपिस्टिक अन्डर माई बुरका, न्यूटन
वीरेन्द्र जैन / 20

पुस्तक-आलोचना

महेश दर्पण / चुनी हुई कहानियाँ : सूर्यबाला / सूर्यबाला / 23

नई पुस्तक

कल्चर वल्चर / ममता कालिया / 19
प्रकाश कांत / अपने हिस्से का आकाश / 22
खिड़की खुलने के बाद / नीलेश रघुवंशी / 25
असंभव से संभव की ओर / तरुण पिथोड़े / 27

रंगमंच

प्रज्ञा / प्रेम जनमेजय के दो व्यंग्य नाटक / डॉ. प्रेम जनमेजय / 26

पुस्तक चर्चा

फ़ारुक़ आफ़रीदी / विलायती राम पांडेय / लालित्य ललित / 30
महावीर रवांल्टा / पथ का चुनाव / कांता राय / 36
डॉ. रेशमी पांडा मुखर्जी / अस्थायी चार दीवारी / वाणी दवे / 42

समीक्षा

डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी / सच कुछ और था / सुधा ओम ढींगरा / 29
शैलेन्द्र अस्थाना / विघटन / जयनंदन / 31
प्रदीप कांत / सजदे में आकाश / कुमार विनोद / 33
शशि कुमार पांडेय / फ़ेक एनकाउंटर / डॉ. मुकेश कुमार / 34
सुरजीत सिंह / बुरी औरत हूँ मैं / वंदना गुप्ता / 37
सौरभ पाण्डेय / थोड़ा लिखा समझना ज़्यादा / जय चक्रवर्ती / 43
पारुल सिंह / चौपड़े की चुड़ैलें / पंकज सुबीर / 46

फ़िल्म-आलोचना

पार्टीशन : 1947 - तथ्यात्मक भ्रांतियों के बीच मानवीय संवेदनशीलता
प्रमोद मीणा / 48

संपादन, प्रकाशन एवं संचालन पूर्णत: अवैतनिक, अव्यवसायिक। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री लेखकों के निजी विचार हैं। संपादक तथा प्रकाशक का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है। पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचारों का पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक पर होगा। पत्रिका जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्टूबर माह में प्रकाशित होगी। समस्त विवादों का न्याय क्षेत्र सीहोर (मध्यप्रदेश) रहेगा।

संपादकीय

बेस्ट सेलर या बेस्ट टेलर...?

शहरयार

shaharyarcj@gmail.com
+91-9806162184

हिन्दी में भी इन दिनों बेस्ट सेलर का रोग लग गया है। बाज़ार जो कुछ न करवाए वो कम है। भाँति-भाँति की सूचियाँ एक के बाद एक आ रही हैं, जिनमें हिन्दी की किताबों के बेस्ट सेलर होने के दावे-प्रतिदावे किए जा रहे हैं। ऐसे समय में हिन्दी की वरिष्ठ लेखिका मैत्रेयी पुष्पा जी का कहा हुआ यह वाक्य भी चर्चा में है कि -साहित्य को बेस्ट सेलर नहीं बेस्ट टेलर होना चाहिए। मैत्रेयी जी ने बहुत सटीक बात कही है। यदि हम बिक्री के आधार पर ही सूचियाँ बनाने लगेगें तो बहुत नुकसान हम अपने समय और समाज का कर डालेंगे। मगर ऐसा भी नहीं है कि बिक्री बिल्कुल ही आवश्यक नहीं है। प्रकाशक के दृष्टिकोण से देखा जाए तो बिक्री तो सबसे आवश्यक है। यदि किताब बिकेगी ही नहीं, तो फिर उसे छापा ही क्यों जाएगा ? किताबों को बिकना तो चाहिए लेकिन उनको बिकाऊ माल नहीं होना चाहिए। बहुत से विषय ऐसे हैं जिन पर यदि लिखा जाए तो बिकने और धड़ल्ले से बिकने की पूरी संभावना होती है। मगर एक प्रश्न फिर सामने आकर खड़ा हो जाता है कि क्या सब कुछ केवल बिकने के लिए ही किया जाएगा? क्या सहित्य भी अब वस्तु हो चुका है ? तो फिर क्यों नहीं वही रास्ता अपनाया जाए जिस पर चलकर धड़ल्ले से बिकने की राह आसान हो जाती है, क्या अर्थ है वह सब कुछ लिखने का जो बिक ही नहीं रहा है। इन सारे प्रश्नों का उत्तर एक ही है, साहित्य बिकने के लिए नहीं रचा जाता है, साहित्य परिवर्तन के लिए रचा जाता है। वह जो अपने समय और समाज में परिवर्तन लाने के लिए रचा जाता है, वह साहित्य होता है। मनरंजन और जनरंजन में बड़ा फ़र्क़ होता है। साहित्य मनरंजन नहीं करता, करना भी नहीं चाहिए। साहित्य अपने समय की आहटों को पकड़ता है और उन आहटों में देखता है कि क्या कुछ ऐसा है, जो ग़लत है, जिसे बदले जाने के आवश्यकता है और फिर वह उस परिवर्तन के सूत्र समाज को देता है। हाँ, यह बात बिल्कुल ठीक है कि इन सब के बाद भी साहित्य में संप्रेषण की शक्ति भरपूर होनी चाहिए क्योंकि, जो कुछ वह समाज को देने की कोशिश कर रहा है, वह समाज तक पहुँचेगा तभी, जब उसे पढ़ा जाएगा। संप्रेषणीयता, पठनीयता ये गुण तो साहित्य के लिए सबसे ज़रूरी हैं। मगर बात एक बार फिर घूम-फिर के वहीं आ जाती है कि क्या बिकने के लिए केवल पठनीयता और संप्रेषणीयता को ही हम साहित्य कहने लगेगें, फिर तो वात्स्यायन की पुस्तक पठनीय भी है, संप्रेषण तो उसका जग-ज़ाहिर है और जहाँ तक बिक्री का सवाल है, तो इंटरनेट के इस युग में भी वह बस अड्डों, रेलवे स्टेशनों पर सबसे ज़्यादा बिकने वाली पुस्तक है। इसका मतलब क्या यह हुआ कि लेखकों को वात्स्यायन से प्रेरणा लेकर वैसा ही लेखन प्रारंभ कर देना चाहिए ?

हिन्दी का साहित्य जगत् एक दुविधा में फँस गया है, कि वो क्या करे ? क्या करे विमर्श या विक्रय ? असल में हिन्दी का लेखन अभी भी बहुत से प्रश्नों के उत्तर तलाशता घूम रहा है। वह अभी भी तय नहीं कर पा रहा है कि कौन-सा रास्ता उसके लिए सही है, वह जो प्रेमचंद का था, या वह जो गुलशन नंदा का था। इसी दुविधा के चक्कर में हो यह रहा है कि बहुत-सा लेखन इन दिनों मिला-जुला हो रहा है, कुछ प्रेमचंद जैसा और कुछ गुलशन नंदा जैसा। मतलब एक ही रचना में दोनों का आनंद लीजिए। यह दुविधा के कारण ही हो रहा है। अब होता यह है कि चूँकि प्रेमचंद होना तो बहुत कठिन है इसलिए रचनाएँ दूसरे तरफ़ ज़्यादा झुकी हुई दिखाई देती हैं। गुलशन नंदा अपने समय में सबसे ज़्यादा बिकने वाले लेखकों में से थे। उनके उपन्यास आते थे और पाठक हाथों-हाथ उनको उठा लेते थे। तो क्या उस दौर में लिखने वाले लेखकों कमलेश्वर, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, मृदुला गर्ग आदि ने नहीं सोचा होगा कि हम भी यही क्यों नहीं लिखें ? यह धड़ल्ले से बिकता भी है और प्रसिद्धि भी भरपूर देता है। हज़ारों-लाखों प्रशंसकों से जगमगाता हुआ आसमान मिलता है इस प्रकार के लेखन में। लेकिन इन लेखकों ने नहीं सोचा होगा, इसलिए वे आज भी पढ़े जा रहे हैं, और गुलशन नंदा का लिखा हुआ कहाँ गया, किसी को नहीं पता। ममता कालिया जी, मृदुला गर्ग जी और चित्रा मुद्गल जी तो आज भी सक्रियता के साथ सृजनरत हैं। विश्व पुस्तक मेले का मेरा अनुभव यह है कि वहाँ पाठक आज भी प्रेमचंद, धर्मवीर भारती, अज्ञेय, अमृता प्रीतम की किताबें तलाशते हुए आते हैं, किसी ने भी आकर नहीं पूछा कि आपके पास गुलशन नंदा, रानू या सुरेंद्र मोहन पाठक की किताबें हैं क्या ? समय सबसे बड़ा निर्णायक होता है, सब कुछ उसी को तय करना होता है, फ़ैसला आपको करना होता है कि आप क्या चाहते हैं, तात्कालिक प्रसिद्धि या दीर्घकालिक यश। इनमें से एक ही मिल सकता है। आप यदि बिकना पसंद कर लेंगे तो फिर आप बिकाऊ ही होकर रह जाएँगे। रफ़ी साहब के गाए हुए किसी पुराने गीत की पंक्तियाँ याद आती हैं -कैसे बाज़ार का दस्तूर तुम्हें समझाऊँ, बिक गया जो वो ख़रीदार नहीं हो सकता....। ख़ैर... रोशनी का पर्व दीपावली सामने है, आप सभी को बस यही शुभकामनाएँ कि आप भले बेस्ट सेलर न बनें, कोई बात नहीं; लेकिन आपकी क़लम से बेस्ट टेलर साहित्य का सृजन होता रहे...।

आपका ही

शहरयार

व्यंग्य-चित्र

काजल कुमार

kajalkumar@comic.com

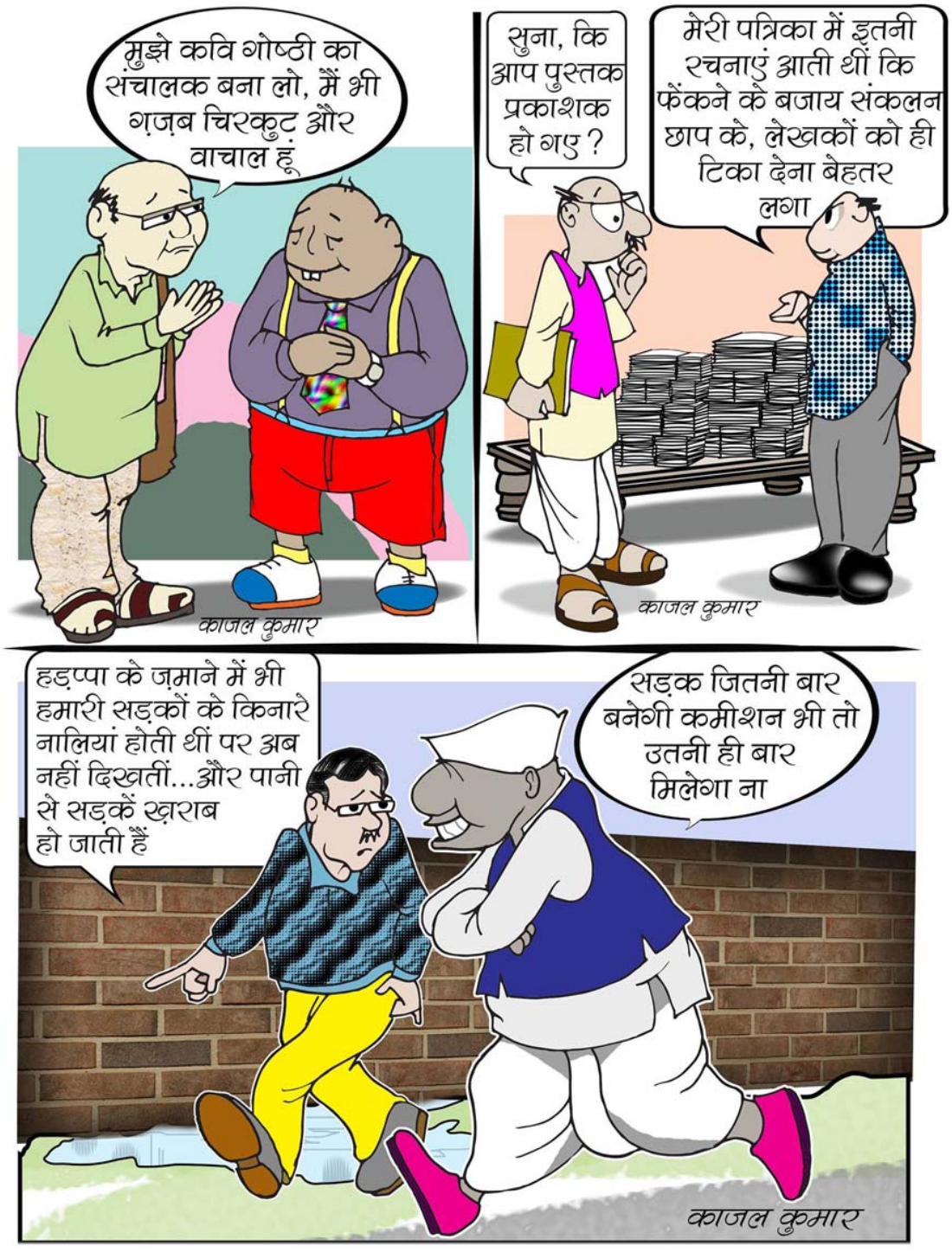

आलोचना में संप्रेषण का प्रश्न

पंकज पराशर

(इन दिनों साहित्य में लोक के, बोली के शब्दों के प्रयोग को लेकर अच्छी-ख़ासी बहस छिड़ी हुई है। तर्क दिए जा रहे हैं कि इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से रचना की संप्रेषणीयता कम होती है। कहा यह भी जा रहा है कि अब पाठक सरल और सीधी भाषा में ही रचना पढ़ना पसंद करता है। पाठक को सामने रखकर चलाई जा रही इस बहस में लोक और बोली के शब्द हारते हुए दिख रहे हैं। ऐसे समय में प्रखर युवा आलोचक पंकज पराशर का यह आलेख बहुत महत्त्वपूर्ण है, जिसमें उन्होंने बहुत गंभीरता के साथ और तमाम तर्कों के पक्ष में सटीक उदाहरणों के साथ सारे प्रश्नों के उत्तर तलाशे हैं। पंकज पराशर हमारे समय के बहुत महत्त्वपूर्ण आलोचक हैं, उनकी प्रकाशित पुस्तकों में कविता संग्रह : समय के अकानैत, विलंबित कइक युग मे निबद्ध (मैथिली), आलोचना : पुनर्वाचन, रचना का सामाजिक पाठ, कविता के प्रश्न और प्रतिमान, टिप्पणी संग्रह : सलीम के शनिदेव तथा अनुवाद : क्लॉद लेवी स्त्रॉस-सात निबंध, गोवध और अँग्रेज, मैथिली कविता संचयन प्रमुख हैं। उन्हें यात्री पुरस्कार (मैथिली कविता में योगदान के लिए), माहेश्वरी सिंह महेश पुरस्कार, देवी शंकर अवस्थी पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। शिवना साहित्यिकी के पाठकों के लिए संप्रेषणीयता के प्रश्नों के उत्तर प्रदान करता उनका यह सुचिंतित आलेख।)

कवि या लेखक जिस सामाजिक पृष्ठभूमि से संबद्ध, जिस संस्कृति से पूर्णत: आबद्ध और जिस विचारधारा से शतधा प्रतिबद्ध होते हैं, उस सामाजिक पृष्ठभूमि और आँचलिक संस्कृति से यदि व्यापक पाठक वर्ग अनभिज्ञ हों, तो रचना के मर्म तक पहुँचने में सहायक बनने के लिए आलोचना की ज़िम्मेदारी बढ़ जाती है। यदि रचना में वर्णित जीवन से पाठक अपरिचित हो, रचना में वर्णित भाषिक-संपदा का उसे कोई इल्म न हो, तो एक अच्छी आलोचना उसे व्यापक पाठक के लिए ग्राह्य और स्वीकार्य ही नहीं बनाती, बल्कि रचना के उत्कर्ष और अपकर्ष दोनों को रेखांकित भी करती है। क्योंकि कृति की चेतना जगाना आलोचना-कर्म का पहला दायित्व है। आलोचना रचना के मर्म-स्थल पर ऊँगली रखने का विवेक ही पैदा नहीं करती, बल्कि रचना के प्रति सही समझ विकसित करने में भी सहायक बनती है। प्रेमचंद बहुत पुराने, मध्यकाल के लेखक नहीं हैं, लेकिन शहरी पाठकों के सामने 'दो बैलों की कथा' में आए शब्दों को पूरे अर्थ-वैभव के साथ समझा पाना कठिन होता जा रहा है। काँजीहौस, चिप्पड़, भीत, पगहिया, नाँद, सानी-पानी जैसे शब्दों से अनेक आम पाठक ही नहीं, छात्र और अनेक अध्यापक तक अपरिचित हैं। 'ईदगाह' में शहर को चकित होकर देखने वाले देहाती बच्चे की तरह आज के शहरी पाठक जब 'कफ़न' तक पहुँचते हैं, तो उन जीवन-स्थितियों से सर्वथा अनजान होने के कारण आलू भूनने, गाँव के भोज में पचास-साठ पूरियाँ खाने की स्मृति-कथा और बुधिया की प्रसव-व्यथा से ही छटपटाकर शांत हो जाते हैं। अर्थव्यवस्था में उदारीकरण के बाद 'इंडिया' के पाठक वर्ग के समक्ष 'भारत' के लोगों की जीवन-कथा को समझ पाने का संकट दिनोदिन बढ़ता ही जाएगा।

अपनी आँचलिकता शब्द-संपदा मसलन बालूचर, फेनूगिलासी हँसी में 'गिरिफ्फ' होकर अनेक भद्रलोक भले फणीश्वरनाथ 'रेणु' की प्रशंसा करें, लेकिन उनके अंचल के शब्द आ जाने पर लोग बगलें झाँकते हुए 'हेल-डूब' करने लगते हैं। अपनी मशहूर कविता 'अकाल और उसके बाद' में नागार्जुन ने 'शिकस्त' शब्द का प्रयोग किया है। 'शिकस्त' फारसी का शब्द है, जिसका अर्थ है पराजय, हार या पराभव। लेकिन नागार्जुन ने इसमें फारसी के 'शिकस्त' शब्द का प्रयोग ही नहीं किया है। मैथिली में 'शिकस्त' का अर्थ है अभाव, विपन्नता। घर में दाने न होने के कारण चूहे की हालत शिकस्त रही, अर्थात् इस बीच घोर अन्नाभाव रहा। मग़र 'शिकस्त' के मैथिली संस्करण से अनजान लोग इसे चूहे की हार समझ लें, तो किम् आश्चर्यम्! सबसे ज़्यादा समस्या तब आती है जब किसी रचना में कोई कथाकार लोककथा का प्रयोग करे या हिंदी के पाठकों का लोक-साहित्य से सामना हो जाए। तब लोक से संबंधित शब्द, रिवाज, खान-पान, लोकोक्ति को समझना पाठकों को तो छोड़िए, हमारे समय के स्रष्टाओं को भी दुष्चक्र में डाल देता है। हिंदी को नागर निरंतर बनाते चले जाने और संस्कृतनिष्ठ 'रघुवीरी हिंदी' को बढ़ावा देने के कारण आज आमफ़हम और मुहावरों तथा लोकोक्तियों से संपन्न भाषा गुज़रे ज़माने की चीज़ हो गई है। दुखद यह है कि आज की भाषा से मुहावरे और लोकोक्तियों को जैसे देशनिकाला दे दिया गया है! ज़ाहिर इसलिए भाषा नीरस और उबाऊ होती चली जा रही है।

'रामचरितमानस' के बालकांड में सीता को आशीर्वाद देते हुए कौशल्या कहती हैं, 'अचल होउ अहिवातु तुम्हारा/ जब लगि गंग जमुन जल धारा'। 'अहिवात' यानी सुहाग। मिथिला में भी अवधी अंचल की तरह सुहाग के लिए अहिवात और सुहागिनों के लिए अहिवाती शब्द प्रचलन में है, लेकिन पिछले कुछ दशकों से उत्तर भारतीय समाज का जिस तरह करवा-चौथीकरण हुआ है उसके बावजूद, 'अहिवात' शब्द को पूरे अर्थ-वैभव के साथ समझा पाना थोड़ा समय-साध्य तो हो ही गया है। तुलसी के यहाँ अवधी के ऐसे सैकड़ों शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो आज भी उसी रूप में प्रचलित हैं, लेकिन 'शिष्ट-भाषा' हिन्दी के पाठकों के लिए वे शब्द किसी विदेशी के शब्द-जैसे हो गए हैं! रिश्तों का 'अंकलीकरण' होने से

जिस प्रकार चाचा, ताऊ, मामा, चचेरे मामा सब महज़ 'अंकल' तक सीमित हो गए हैं, उसी तरह उत्तर भारतीय खाने का 'पनीरीकरण' होने से बहुत सारे पकवान और पकवानों से संबंधित शब्द हमारी भाषा से ग़ायब होते चले जा रहे हैं। संस्कृत की रोटिका यानी हिंदी की रोटी के लिए हमारे यहाँ दर्जनों शब्द हैं, लेकिन अब सोहारी यानी चपाती भी रोटी है और हाथ से ठोक कर बनाई गई हथरोटिया मोटी रोटी भी रोटी ही है! तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में 'सोहारी' शब्द का प्रयोग किया है, जो असल में गेहूँ की चपाती के लिए प्रयुक्त होता है। लेकिन ऑक्सफोर्ड की डिक्शनरी के मुताबिक यह घी में तली गई पूरी है और छत्तीसगढ़ में पकवान! ऐसे में भला माँगलिक अवसर पर बनने वाली 'दोस्ती सोहारी', बिहार में बनने वाले 'रोट' और राजस्थान के मेवाड़ अंचल की 'झकोरमा पूरी' के मर्म तक महज कुछ शब्दों के सहारे कोई आलोचक कैसे पहुँचा सकता है! रामदरश मिश्र ने भी 'स्वप्न-भंग' में लिखा है, 'सब लोग पूड़ी-सोहारी खा रहे हैं और तुम इस बरगद के नीचे बैठे चने के दाने निखोर-निखोरकर खा रहे हो!' पके हुए चावल के लिए बहु-प्रचलित शब्द है 'भात', लेकिन न जाने क्यों भात कहने में लोगों को भदेस कहलाने का भय सताने लगा है। सब्ज़ी कहने में ऐसा गौरव-बोध होता है कि 'तरकारी' कहने में संकोच होने लगा है। जबकि हमारा साहित्य इन्हीं परंपरा से, इन्हीं शब्द-संपदाओं से रचा गया है।

किसी भी भाषा का अर्थ जब सिर्फ अभिव्यक्ति तक सीमित होकर रह जाए और संस्कृति का व्यापक दायरा जब सिर्फ उपभोग की संस्कृति भर रह जाए, तो गाँव, ग्रामीण समाज, खेती-बारी, प्रकृति, लोक-संस्कृति और लोकोक्ति के प्रयोग से संपन्न रचना की व्याख्या और अर्थ-पंखुड़ी को अनावृत्त करने का प्रयत्न बहुत चुनौतीपूर्ण हो जाता है। इसलिए जिस तरह 'सभ्यता के विकास के साथ-साथ कवि-कर्म कठिन होता चला जाता है', उसी तरह आलोचना-कर्म भी कठिन होता चला जाता है। कवि या लेखक जिस जमीन पर अपनी रचना करते हैं, जिस जीवन की कथा लिखते हैं, उस रचनात्मक पृष्ठभूमि के बारे में यदि पाठक को कोई इल्म न हो, तो आलोचक चाहे कितना भी बड़ा लालबुझक्कड़ क्यों न हो, वह उस रचना के अर्थ-वैभव और सामाजिक जीवन-विवेक तक लेकर नहीं जा सकता। घाघ ने लिखा है, 'जोंधरी जोते तोड़-मरोड़/ तब वह डारे कोठिला फोर' अर्थात् जोंधरी के खेत की जुताई अधिक करनी चाहिए। ऐसा करने पर इतनी अधिक पैदावार होगी कि कोठिले में नहीं समाएगी। आज जोंधरी शब्द से अधिकांश जन अपरिचित हैं और कोठिला और बखार के दर्शन तो अब गाँव में भी बमुश्किल होते हैं। सूरदास ने अपने पद में मोटे अनाज के तहत आने वाले कोदो-सावाँ का जिक्र किया है। आजादी के बाद भारत के खेतों में धान, गेहूँ, दलहन और कुछ तिलहनों की आमद के कारण आज कोदो-सावाँ का दर्शन भी दुर्लभ है।

मैथिली के कवि चंदा झा ने उत्तर बिहार में गंगा के किनारे पहलेजा घाट क्षेत्र में होने वाले तरबूज के लिए 'पहलेज' शब्द का इस्तेमाल किया है। इसलिए बिना इसकी पृष्ठभूमि से परिचित हुए पाठक असली काव्य-मर्म तक नहीं पहुँच सकता।

आज की हिन्दी आलोचना लगातार दोतरफा चुनौतियों से जूझ रही है। एक तरफ गाँव, ग्रामीण समाज, खेती-बारी, प्रकृति, लोक-संस्कृति और लोकोक्ति से बढ़ती दूरी के कारण जहाँ इससे संबद्ध और आबद्ध रचनाओं के मर्म का संप्रेषण बहुत कठिन होता जा रहा है, वहीं दूसरी तरफ नई सूचना तकनीक से अनजान विद्वान आज की शब्दावली के प्रयोग से संबद्ध रचनाओं के मर्म तक नहीं पहुँच पा रहे हैं। यानी आलोचना के सामने आज संप्रेषण का दोतरफा संकट है। कहीं ऐसा तो नहीं कि संप्रेषण की इसी समस्या के कारण पुराने आलोचक नई रचनाओं के मर्म को नहीं समझ पा रहे हैं और हमारे समय के नए आलोचक पुरानी रचनाओं के मर्म तक पहुँच ही नहीं पा रहे हैं?

❏❏❏

हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, 202002
उत्तर प्रदेश, मोबाइल : 9634282886
ईमेल: pkjppster@gmail.com

शिवना साहित्यिकी सदस्यता प्रपत्र

यदि आप शिवना साहित्यिकी की सदस्यता लेना चाहते हैं, तो सदस्यता शुल्क इस प्रकार है : 200 रुपये (एक वर्ष), 400 रुपये (दो वर्ष), 1000 रुपये (पाँच वर्ष), 3000 रुपये (आजीवन)। सदस्यता शुल्क आप चैक / ड्राफ़्ट द्वारा शिवना साहित्यिकी (SHIVNA SAHITYIKI) के नाम से भेज सकते हैं। आप सदस्यता शुल्क को शिवना साहित्यिकी के बैंक खाते में भी जमा कर सकते हैं, बैंक खाते का विवरण इस प्रकार है :

Name of Account : **Shivna Sahityiki**, Account Number : **30010200000313**, Type : **Current Account**, Bank : **Bank Of Baroda**, Branch : **Sehore (M.P.)**, IFSC Code : **BARB0SEHORE** (Fifth Character is "Zero")

(विशेष रूप से ध्यान दें कि आई. एफ. एस. सी. कोड में पाँचवा कैरेक्टर अंग्रेज़ी का अक्षर 'ओ' नहीं है बल्कि अंक 'ज़ीरो' है।)

सदस्यता शुल्क के साथ नीचे दिये गए विवरण अनुसार जानकारी ईमेल अथवा डाक से हमें भेजें जिससे आपको पत्रिका भेजी जा सके:

नाम :— — — — — — — — — — — — — — — — डाक का पता :— — — — — — — — — — — — — — — —

— — — — — — — — — — — — —सदस्यता शुल्क :— — — — — — —चैक / ड्राफ़्ट नंबर :— — — — — — — — —

ट्रांज़ेक्शन कोड (यदि ऑनलाइन ट्रांस्फ़र किया है) :— — — — — — —दिनांक : — — — — — — — — — — — —

(यदि सदस्यता शुल्क बैंक खाते में नकद जमा किया है तो बैंक की जमा रसीद डाक से अथवा स्कैन करके ईमेल द्वारा प्रेषित करें।)

संपादकीय एवं व्यवस्थापकीय कार्यालय : पी. सी. लैब, शॉप नंबर. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, म.प्र. 466001, दूरभाष : 07562405545, मोबाइल : 09806162184, ईमेल : vibhomswar@gmail.com

होता है शबोरोज़ तमाशा मिरे आगे (4)

सुशील सिद्धार्थ

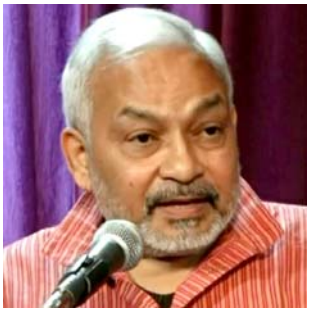

बात आगे बढ़ाने से पहले एक संवाद पढ़ लीजिए। संवाद से पहले एक चेतावनी । वैधानिक और साहित्यिक चेतावनी यह है कि मेरे ऐसे सारे संवाद कल्पना प्रसूत होते हैं। कुछ ख़ुदाई ख़िदमतगार लोग इनको घटित मानकर आवश्यक कार्रवाई में लग जाते हैं। उनको हताशा होगी, मगर यह सच है। ऐसे संवादों में वास्तविक नामों का इस्तेमाल एक पुरानी युक्ति है। हाँ, अगर किसी को दिक़्क़त होगी तो नाम का इस्तेमाल नहीं करूँगा। अब संवाद--

'सुशील : प्रेम जनमेजय जी, हर कोई कह रहा है कि व्यंग्य में बहुत अल्ल बल्ल चल रहा है।

प्रेम जनमेजय : सुशील, सच तो यह है कि व्यंग्य में मल्ल उतर आए हैं। और मल्ल युद्ध चल रहा है।

सुशील : यानी...

प्रेम जनमेजय : यानी ...धराशायी करने, पीठ लगाने, आसमान दिखाने, मिट्टी सुँघाने, नाक रगड़वाने, कस बल निकालने, बाँहें मरोड़ने, जाँघें पीटने आदि की प्रतियोगिता चल रही है।

सुशील : अब इतने व्यंग्यकार हैं तो इतनी क्रियाएँ तो होंगी ही। लेकिन अखाड़े में जगह तो कम है।

प्रेम जनमेजय : तो क्या हुआ! कुछ अखाड़े में मल्लयुद्ध कर रहे हैं। कुछ...

सुशील: कुछ?

प्रेम जनमेजय : कुछ अखाड़े के बाहर खड़े अपनी देह मल रहे हैं। कुछ...

सुशील : कुछ?

प्रेम जनमेजय : कुछ दूसरों की भुजाएँ मल रहे हैं। कुछ...

सुशील : कुछ?

प्रेम जनमेजय : कुछ दूसरों को मल तो रहे हैं। लेकिन यह कहना कठिन है कि कहाँ-कहाँ मल रहे हैं। कुछ...

सुशील : कुछ??

प्रेम जनमेजय : कुछ मठाधीश की जगह मलाधीश बनने की तैयारी में हैं। कुछ...

सुशील: सर,अब कहने सुनने को कुछ नहीं रहा।'

....फिर भी कहने सुनने को हमेशा बहुत कुछ रहता है। विश्व पुस्तक मेला में रंदा के लोकार्पण के बाद ज्ञान चतुर्वेदी दल-बल सहित भावना प्रकाशन के स्टाल पर गए। या ले जाए गए। ज्ञानजी का वह रुतबा है कि उनपर हक़ जमाने के लिए अघोषित द्वंद्व सा चलता है। उनकी पीढ़ी के...उनके साथी भी कंधे से कंधा मिलाकर फोटो खिंचवाने के लिए हुज्जत करते देखे गये हैं। थोड़ी हुज्जत यहाँ भी हुई।

भावना प्रकाशन के कर्ता-धर्ता नीरज बहुत प्यारे इंसान हैं। सबसे ख़ुश होकर मिलते हैं। स्टाल पर कमलेश पांडेय के व्यंग्य संग्रह का लोकार्पण प्रेम जनमेजय, हरीश नवल,आलोक पुराणिक आदि ने किया। एक किसी और किताब को विमोचित किया गया। संचालन मेरे ज़िम्मे आया। ख़ूब फ़ोटो खिंचे। कुछ लोग भी खिंचे-खिंचे से रहे। बहरहाल, यह मौका व्यंग्य जगत् के लोगों से मिलने का था। जो सफल रहा।

जहाँ तक याद पड़ता है, ज्ञानजी अपने ख़र्च पर समारोह में शामिल होने आए थे। अपनी बेटी के यहाँ रुके थे।

ख़र्च शब्द पर ज़ोर इसलिए दिया कि एक सज्जन याद आए। यह सज्जन आत्मघोषित व्यंग्य विशारद् हैं। इनसे मिलना जीवन का धन्यीकरण है। न करते हुए भी अपनी तारीफ़ करने की कला में निपुण हैं। ख़ूब करते हुए भी किसी की निंदा न करने का जिगर और हुनर रखते हैं। ये बहुत बार वर्णन करते रहते हैं कि पिछले महीने उसने एयर फ़ेयर से बुलाया। एक बार उसने बुलाया था। यार फ़ाइव स्टार स्वागत किया। ....ध्यान रहे, यह एक लेखक की गोष्ठी यात्रा का विवरण होता है। कभी इन्होंने यह नहीं बताया कि वहाँ बोला क्या। या हुआ क्या। ...ऐसे ज़माने पर अपने ख़र्चे पर आना और बेहद ज़रूरी बातें करना ज्ञान चतुर्वेदी का अनाड़ीपन ही कहा जाएगा। ज्ञानजी भी हम न सुधरब कोटि के व्यक्ति हैं।

भावना प्रकाशन के स्टाल पर भी ज्ञानजी ने अपनी बेबाक बयानी का परिचय दिया। मुझे तकलीफ यह हुई कि इतना महत्त्वपूर्ण लेखक इतने हठधर्मी लोगों के सामने कह-कह के थका जा रहा है मगर कोई असर ही नहीं। जो जैसा लिख रहा था, उससे ख़राब लिखने लगा है। जो जितना सोच रहा था, उससे नीचे उतर कर हरकतें कर रहा है। आख़िर कारण क्या है कि कुछ भी नहीं बदल रहा। तुलसीदास ने कहा था ,'अतिशय रगर करै जो कोई, अनल प्रगट चंदन ते होई।' तो ज्ञानजी के घिसने में कोई कमी है या रगड़ी जा रही चीज़ों में कोई बुनियादी खोट है! इसीलिए जब कभी वर्तमान व्यंग्य लेखन पर बात होती है तो ज्ञानजी बहुत उत्साहित नहीं दिखते। उत्साहित क्या,कुछ कुछ हताश ही दिखते हैं।

मैं एक संवाद का तसव्वुर करता हूँ। प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्य का काम सोते हुओं को जगाना है। अगर इस संदर्भ में बात होती तो कुछ ऐसे होती।

'सुशील सिद्धार्थ : सर, ये कौन लोग हैं ?

ज्ञान चतुर्वेदी : कौन लोग!

सुशील : यही लोग...बरसों से जिनकी आँखें बंद हैं। क़लम बंद हैं। कंप्यूटर बंद हैं। ...फिर भी जो लगातार अर्थात मुतवातिर

अर्थात नानस्टाप लिखे जा रहे हैं।

ज्ञानजी : अच्छा ये लोग !! ऐसा है, इन लोगों को नींद में चलने की बीमारी है..

सुशील : फिर ?

ज्ञानजी : फिर क्या! ये लोग सोते-सोते ही लेखन के इलाके में आ निकले हैं।'

मैं बहुत गर्व और विश्वास के साथ कह रहा हूँ कि व्यंग्य आलोचना के अगणित सूत्र ज्ञानजी के भाषणों में निहित हैं। काश उनके भाषणों को टेप और ट्रांसक्राइब कर किसी ने कुछ किताबें बना ली होतीं। तो हम (बहुत आराम से.. और कुछेक बार बियर-शियर पीते हुए ..और अनेक बार मदिरोन्मत्त होते हुए) उन बातों का रोना न रोते जो व्यंग्यालोचना, सौंदर्यशास्त्र, व्यंग्यकारों में संदर्भ संकीर्णता से जुड़ती हैं। वक्तव्यों से तैयार ऐसी किताबें नामवर सिंह की छपी हैं। यह काम आशीष त्रिपाठी ने किया है। व्यंग्य में ज्ञान चतुर्वेदी बहुत बड़ी हस्ती हैं, मगर उनके आसपास ऐसे लोग न रहे या न रह सके या न रहने दिए गये जो व्यंग्य के व्यापक हित में 'ज्ञान के ज्ञान' को सँजो सकते। नामवर तो नामवर हैं, लेकिन ज्ञान भी ज्ञान हैं। एक बात दोनों में कॉमन है,वह है साहित्य का सहजबोध। और इसीलिए दोनों को रचना की अचूक पहचान है। मैं दोनों का प्रिय हूँ इसलिए यह बात अपने अनुभव से कह सकता हूँ।

...लोगों ने ज्ञानजी को बहला फुसलाकर, पटाकर, मुग़ालते में रखकर तिकड़ी, चौकड़ी, पंचकड़ी, छकड़ी ...चाहे जो बनाई हो, वे लोग व्यंग्य में कुछ सार्थक नहीं बना पाए। व्यावहारिक रूप में सोचें तो विधा के लिए ज्ञानजी का उपयोग भी नहीं कर पाए। हाँ, उनके स्टारडम का सहारा लेकर अपने अपने जल्वे ज़रूर साधते रहे।

किसी समय प्रोड्यूसर डायरेक्टर कहते थे कि भाई, अमिताभ बच्चन को साइन कर लिया है। अब कोई हीरोइन, कोई विलेन, कोई कैरेक्टर आर्टिस्ट ले लो...फ़िल्म तो सुपरहिट होनी ही है। इसी तरह व्यंग्य के अनेक कार्यक्रम ऐसे तय होते थे कि भाई, ज्ञान चतुर्वेदी का आना पक्का है। उनसे बात हो गई। अब दो चार चाहे जो बुला लो, कार्यक्रम हिट है। इन दो चार में कौन होता होगा,यह तो दो चार लोग बता ही देंगे। ...और यह आज भी है। आज भी किसी व्यंग्य लेखक का रुतबा ज्ञानजी से आगे नहीं जा पाया है। कारण अनेक होंगे। अनेक न हों तो फिर कारण कैसे!

अक्सर फ़ोन पर ज्ञान चतुर्वेदी से रचना और आलोचना पर लंबी बात होती रहती है। जैसे पिछले दिनों युवा व्यंग्य आलोचक राहुल देव से उनकी महत्त्वपूर्ण फ़ोनवार्ता हुई। ऐसी ही एक बातचीत में एक दिन ज्ञान जी ने कहा, 'देखो सुशील रचना का मान रखना है तो उसकी आलोचना के उपयुक्त प्रतिमान भी रखने परखने होंगे। देखो, तुलती हर चीज़ है। आदमी भी। भगवान् भी। मगर तोलने के बटखरे जुदा होते हैं। कोयला और सोना तोलने के मान एक हो सकते हैं क्या! आप कर क्या रहे हैं? कर यह रहे हैं कि कोयला तोलने वाले बड़े तराजू पर रचना को रख देते हैं। फिर ज़ोर से चिल्लाते हैं पौने दो किलो। या लेखक को एक पलड़े पर धकेल देते हैं। फिर आलोचना के शिखर पर चढ़कर चीखते हैं पैंसठ केजी। यह तमाशा हो रहा है। मेरा आज भी मानना है कि पहले समझ आती है, फिर भाषा आती है। इसलिए प्रचलित भाषा से बाज़ीगरी करने की जगह रचना की समझ पैदा करें। समझ अच्छी पुस्तक या अच्छे गुरु के सत्संग से विकसित होती है। किसी की समझ की बाती किसी जलते हुए दीपक से ही आलोक पाती है। आज बहुत से लोग बुझ चुके या कभी न जले दियों से रौशनी की उम्मीद में अपनी बाती छुवा रहे हैं।'

यह बात जब मैंने फेसबुक पर लगाई तो कुछ बहुत ज़रूरी प्रतिक्रियाएँ मिलीं। वरिष्ठ व्यंग्यकार व चिंतक सुरेश कांत ने कहा, 'कई बातें मैं भी इसी तरह की आपसे कह चुका हूँ, जैसे यह कि संग-साथ से न जला हुआ दिया भी कब जल रहे दिये की लौ से भभककर जल उठता है, पता ही नहीं चलता और सत्संग इसी को कहते हैं। ज्ञान जी ने भी यही कहा, तो मानो, अपनी समझ की पुष्टि हो गई। पर मैं विनम्रतापूर्वक उनकी इस बात से असहमत हूँ कि कविता के प्रतिमानों से व्यंग्य को कसा जा रहा है, यह समझते हुए कि व्यंग्यकार होने के नाते वे व्यंग्य के संदर्भ में ही यह सब आपसे कह रहे होंगे। सच तो यह है कि व्यंग्य को अभी किन्हीं भी पैमानों पर नहीं कसा जा रहा, मुख्य धारा के आलोचकों द्वारा उसे इस लायक ही अभी नहीं समझा जा रहा। जो भी कुछ लिखा-पढ़ा जा रहा है, वह व्यंग्यकारों द्वारा ख़ुद ही लिखा-पढ़ा जा रहा है, जिसका निष्पक्ष या सटीक होना इसलिए आवश्यक नहीं कि वे खुद व्यंग्यकार होने के कारण उसमें एक पक्ष होते हैं। इसलिए तरह-तरह की बातें सामने आ रही हैं। व्यंग्य के सबसे लोकप्रिय विधा होने के बावजूद यह एक बहुत चिंताजनक स्थिति है, जिस पर विचार किया जाना आवश्यक है।'

इस पर मैंने लिखा ,'आपसे भी इस तरह का विमर्श अक्सर होता रहता है। सच तो यह है कि ज्ञानजी और आपके अलावा इस तरह की चर्चा अन्य किसी से दुर्लभ है। ज्ञानजी व्यंग्य में आलोचना की हालत पर कुछ कह रहे थे। असल में विडंबना, वक्रोक्ति, विट जैसी शब्दावली को बार बार पटकने की आदत से वे दुखी थे। आप भी ऐसी मसीही आलोचना से परेशान रहते हैं। रचनाओं में गहरे पैठकर लिखने वाले आलोचक व्यंग्य में विकसित होने चाहिए। आपकी और ज्ञानजी की चिंता एक ही है।'

इसका जवाब सुरेश कांत ने दिया, 'हाँ, यह सही कहा उन्होंने। घिसी-पिटी शब्दावली से व्यंग्य की आलोचना की जाती है, एक रचना के तौर पर व्यंग्य की गहराई में उतरने का प्रयास नहीं किया जाता।'

राजेंद्र सहगल ने कहा, 'पहले समझ आती है फिर भाषा आती है, ज्ञान जी का यह कथन उनकी अन्यतम दृष्टि का सबूत है ! आप दोनों (सुशील जी और सुरेश जी) की व्यंग्यालोचन को लेकर चिंताएँ जायज़ है ! एक बड़े अरसे से मैं भी व्यंग्यालोचन की यांत्रिक भाषा व तौर तरीकों से तकलीफ महसूस करता रहा हूँ ! आप के इस गहन विमर्श से बेहतर ज़मीन तैयार होगी !'

व्यंग्यकार अतुल चतुर्वेदी ने राय दी, 'व्यंग्य आलोचना को अपने मानक बदलने पड़ेंगे नयी बीमारियों का इलाज पुरानी दवाइयों से न होगा । समय बदल रहा है, हालात बदल रहे है आज का व्यक्ति बेहद चालाक हो गया है उसको चित्रित करने के लिए जिस तरह की नई मनोवैज्ञानिक समझ चाहिए वैसी ही नई दृष्टि व्यंग्य आलोचना को भी।'

....सवाल है, ऐसे अनेक प्रश्नों पर व्यापक विमर्श काहे नहीं हुआ। और हुआ

भी तो बहुत बार 'हुआ हुआ' के भारतप्रसिद्ध नाद में विलीन हो गया। ज्ञानजी के संपर्क में आने पर ऐसे न जाने कितने मुद्दे खुले। समझ में नहीं आता कि अधिकतर वर्तमान व्यंग्यकारों की चिंताएँ क्या हैं? पुरस्कार गोहार, गोष्ठी बंटाधार, समीक्षा संहार, चाटुकारिता चमत्कार, परनिंदा प्रचार, विधागत व्यभिचार... !!

ऐसे उदाहरणीय कुछ व्यंग्यकार तो राजा जनक के विदेहावतार हैं। उदासीन बगुले की तरह अन्यमनस्क। उनको सब चाहिए। मगर, जैसे कुछ भी नहीं चाहिए। एक संवाद पढ़िए।

'सुशील सिद्धार्थ : सुरेश कांत जी, उनका कहना है कि उनके कहीं भी छपने या न छपने से उनको कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

सुरेश कांत : ठीक बात। वैसे उनका कहीं भी छपा हुआ पढ़ने या न पढ़ने से पाठकों को भी कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

सुशील : लेकिन जब कोई फ़र्क ही नहीं पड़ता तो औरों को यह सब बताने की क्या ज़रूरत है। वे तो यह सब भी बताते रहते हैं।

सुरेश कांत : सुशील भाई, अगर वे लोगों को यह न बता पाते कि उनको फ़र्क नहीं पड़ता, तो उनको बहुत फ़र्क पड़ जाता।'

जब अनेक वरिष्ठ जन अपने ही छपने या न छपने के दर्द से उबर नहीं पाते तो नयी चुनौतियों से किसी को क्या उबारेंगे। जैसे व्यंग्य की एक समकालीन चुनौती यह भी है कि अब उस पर प्राय: हर पंक्ति में ही-ही करवाने की भयावह ज़िम्मेदारी जमाई बताई जा रही है। यह ज़िम्मेदारी व्यंग्य ही नहीं, साहित्य की मूल धारणाओं को न समझने वाले लोग जमा रहे हैं। अब सारे वाक्य पंच हों, तभी मुक्ति है। अन्यथा पाठक पसंद नहीं करेंगे। क्या कोई व्यंग्यकार यह कह सकता है कि उसने भारत भर के भाँति-भाँति के पाठकों का अनुसंधान कर लिया है! यह मोहक और मूढ़ मुग़ालता है कि पाठक नहीं पढ़ेंगे। लेकिन इस तर्क से व्यंग्य में आफत मचाई जा रही है।

दरअस्ल, लेखन बहुत कठिन काम है। जूझना पड़ता है बूझना पड़ता है तभी कुछ सूझता है। यहाँ तो, 'हाहाकार मचाकर बंदर कूद पड़ा गोष्ठी के अंदर' को ही सर्वोपरि विद्वानपना माना जा रहा है। लेखक कैसे

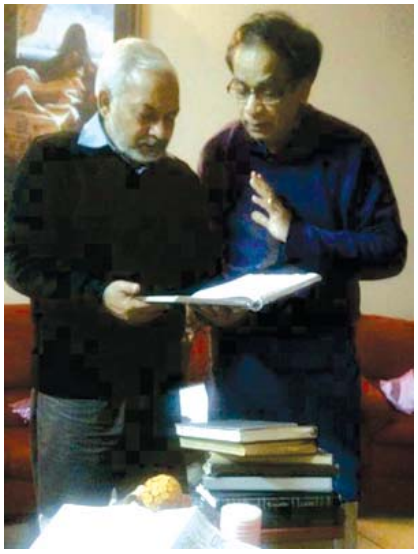

बनता है, लेखन प्रक्रिया क्या है? इसे समझाने के लिए एक उदाहरण देता हूँ।

पचमढ़ी का संस्मरण आगे आएगा। मगर उससे जुड़े एक चित्र का संदर्भ यहाँ ठीक लगेगा।

यह चित्र पचमढ़ी से लौटते हुए भोपाल में ज्ञान चतुर्वेदी के घर पर लिया गया था। हुआ यह कि ड्राइफ्रूट खाते हुए मैंने एक ड्राइ-सा सवाल पूछा कि ज्ञान जी, आपकी रचना प्रक्रिया क्या है! कैसे एक विचार, अनुभव या आइडिया रचना में रूपांतरित होता है। उत्तर देने से पहले ज्ञानजी भीतर गये। अपने साथ दस पंद्रह बड़ी वाली डायरियाँ ले आए। मैंने उनको देखना शुरू किया तो सब भरी थीं। ये राइटिंग, वो काटा-पीटी...सब। जैसे कोई गोदाम खुल गया हो। वे कह रहे थे कि अभी पाँच उपन्यासों का मैटर इनमें है। करीब एक हज़ार व्यंग्य लेख आधे-अधूरे रखे हैं। सबको पूरा करना है। इस चित्र में मैं एक डायरी में कुछ पढ़ रहा हूँ। और ज्ञानजी बता रहे हैं कि जब कोई विचार आता है वे दो-चार लाइनों में उसे लिख लेते हैं। मन उस पर काम करता रहता है। फिर समय आने पर उसे रचना में विस्तार मिलता है।

उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा कि विचार किसी पंछी की तरह तुम्हारी चेतना की मुंडेर पर आता है। तुमने ध्यान दिया तो ठीक, वरना वह कहीं और फुर्र हो जाता है। ...यह कथन गुरुमंत्र बना मेरे लिए।

ऐसी मेहनत बहुत कम लोग करते हैं। अब या तो आप में आलोक पुराणिक जैसी अद्वितीय प्रतिभा हो तब बात बनेगी। मुझे लगता है कि आलोक बहुत हलकान नहीं होते। वे सहजता से अपनी बात कहते चलते हैं। ...या आप में सुरेश कांत जैसा धैर्य और अध्ययन हो। कि रचना मन में ही विस्तार पा जाए। या आप में प्रेम जनमेजय सरीखी उदासीनता हो कि ठीक है यार। जितना बन पड़ा उतना किया। क्यों रचना प्रक्रिया के मोह में जाना। ...फिर भी, प्रतिभा धैर्य अध्ययन उदासीनता के साथ थोड़ा सा 'ज्ञानत्व' भी चाहिए। ऐसा मुझे लगता है।

मुझे यह भी लगता है कि यह सब फ़ालतू सोच रहा हूँ। बहुतेरे लोग तो किसी और ट्रैक पर हैं। जैसे...

'सुशील सिद्धार्थ :सुरेश कांत जी, वे आजकल बहुत परेशान हैं ।

सुरेश कांत : होंगे ही..

सुशील : लेकिन..क्यों होंगे ही !

सुरेश कांत : क्यों क्या, उनकी मनोदशा समझिए। हर आदमी अपना नाम चाहता है..

सुशील : तो क्या उनको मनचाहा यश नहीं मिल पा रहा!

सुरेश कांत : अमाँ यश की तो छोड़िए..

सुशील : फिर?

सुरेश कांत : उन्होंने बहुत मेहनत की है। और कर रहे हैं। ...लेकिन उनको उतना अपयश भी नहीं मिल पा रहा, जितना वे डिज़र्व करते हैं।

सुशील सिद्धार्थ : एक बात और, अच्छी बात क्या होती है ?

सुरेश कांत: यह अच्छी बात आपके दिमाग़ में कैसे आई!

सुशील : सुना है आजकल वे बहुत अच्छी-अच्छी बातें कर रहे हैं। इसलिए पूछना पड़ा...

सुरेश कांत : सुशील जी सुनिए । अच्छी बात वह मानी जाती है जिससे अपना काम बने या न बने.....मगर किसी दूसरे का काम बिगड़ ज़रूर जाए।'

अब ऐसी अच्छी बातों में मुब्तिला लोग सुप्रसिद्ध लेखक संपादक ज्ञानरंजन के इन वाक्यों पर क्या ध्यान देंगे---'जीवित भाषाओं में यह बेचैनी होती है, उन्हें जल्दी नींद नहीं आती। भाषा में नये, मेधावी और संकोची रचनाकारों का भी प्रवेश हो रहा है, उनकी तरफ ध्यान देना, उनको खोज लेना, पा लेना, उन्हें सँवार लेना भी एक संपादकीय कौशल का हिस्सा है, जो हमें

करना होता है। हमें मूलत: साहित्य की ख़ुशबू को बचाना है जो नई सृष्टि में कम या नकली हो गई है।' (पहल - 107)

जो काम लेखन और भाषण के द्वारा ज्ञान चतुर्वेदी करते रहते हैं, वह यही है। ज्ञानरंजन ने संपादक की भूमिका पर ज़ोर दिया है। अब क्या कहें ! व्यंग्य में पत्रिका केवल एक है....व्यंग्य यात्रा। यह अपनी ज़िम्मेदारी निभा रही है,मगर इसमें भी सुधार की बहुत गुंजाइश है। व्यंग्यकारों की एक दिक्कत यह भी है कि वे सरयूपारीण ब्राह्मण सभा या कुर्मी क्षत्रिय कमेटी या पटपड़गंज तेली महासंघ की भूमिका में रहते हैं। उन संगठनों का काम अलग है, जो वे करते हैं। ...मगर लेखक को तो समूचे साहित्य की ख़बर रहनी चाहिए। और हमारे बहुतेरे नए पुराने व्यंग्यकार जब व्यंग्य ही नहीं पढ़ते तो कविता, कहानी, निबंध, संस्मरण, उपन्यास, आलोचना क्या पढ़ेंगे। यह न पढ़ना उनके लेखन और वक्तव्यों से ज़ाहिर होता रहता है। किसी किताब का शीर्षक, किसी का फ्लैप मैटर, किसी की चालू समीक्षा पढ़कर एक घंटे का भाषण खींच लेने वाले श्रोताओं के सौभाग्य से यहाँ हैं। वीरविहीन मही नहीं है। तो जब पढ़ेंगे नहीं, गुनेंगे नहीं, सुनेंगे नहीं तो अपना भी सिर धुनेंगे और अन्य के तबला जैसे अंगों पर मृदंग बजाएँगे। फिर जब ज्ञान चतुर्वेदी बरसों से जारी सवालों पर कुछ कहेंगे लिखेंगे तब कुछेक लोगों को प्रतिवाद के मुर्रा उठेंगे। (मुर्रा का अर्थ डॉक्टर अंजनी चौहान से पूछा जा सकता है। वे डॉक्टर हैं और गांव से भी जुड़े रहे हैं। मुर्रा अवधी का शब्द है। शायद मरोड़ से इसका कोई नाता हो। मुर्रा एक स्थिति विशेष है। यह लूज़मोशन और पेचिश के बीच की एक उपजाऊ स्थिति है। इसमें आदमी रैप संगीत गा रहे व्यक्ति जैसी हरकतें करने लगता है।) ...और प्रतिवाद करते हुए लोग ऐसी ऐसी बातें करने लगते हैं जो ज्ञानविरुद्ध न होकर व्यंग्य विरुद्ध हो जाती हैं।

एक उदाहरण देता हूँ। साहित्य में सपाटबयानी का एक विशेष पारिभाषिक अर्थ है। व्यंग्य की आलोचना में तो विशेषातिविशेष । व्यंग्य तो वचन वक्रताओं के प्रदेश में ही रहता है। ज्ञान चतुर्वेदी ने इस मुद्दे पर बहुत कुछ कहा है। बल्कि खीझकर वे 'सपाटबयानी संप्रदाय' पद का इस्तेमाल करने लगे। उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा था। उसका एक अंश यहाँ दे रहा हूँ।

ज्ञान उवाच: 'कृपया सपाटबयानी को वृहद अर्थों में लें तभी व्यंग्य का भला होगा। सपाटबयानी को वनलाइनर की तरह कहूँ तो यह वह व्यंग्य रचना है जो 'व्यंग्य-व्यंग्य' बड़बड़ाती तो है, पर उसका कुछ भी अर्थ निकालना असंभव है। व्यंग्य के व्योम में बड़बड़ाहट का निरर्थक शोर ही वह सपाटबयानी वाला व्यंग्य है जिसे लेकर मेरा विरोध तथा चिंता है।

तो अंतत: सपाटबयानी वाला व्यंग्य क्या है?

जहाँ भी व्यंग्य या तो हो ही नहीं, व्यंग्य के नाम पर कुछ सपाट सा लिख दिया गया हो, या व्यंग्य इतना सपाट हो कि बचकाना बयान बनकर रह गया हो--फिर वह सपाट सरल शैली में हो...या वक्रोक्ति, विट, व्यंजना से सना हो, सब कुछ 'व्यंग्य में सपाटबयानी' के अंतर्गत आएगा। कम से कम मेरी चिंता इसी सपाट व्यंग्य को लेकर है।'

जब ऐसी बातें आती हैं तब बहुतेरे व्यंग्यकार उठ खड़े होते हैं। वे भी उठ खड़े होते हैं जो कभी अपने लेखन में उठकर खड़े न हो पाए। तब लगता है कि परिवेश में कोई बुनियादी समस्या है। इसीलिए मैं इस संस्मरण आख्यान में उस समय को समझने की कोशिश कर रहा हूँ जिसमें ज्ञानजी सक्रिय हैं।

इस समय में अच्छा बुरा सब कुछ है। ज़माना ऐसा है कि किताब का समर्पण तक रणनीति के तहत किया जाता है। आभार, कृतज्ञता, धन्यवाद आदि तिकड़म के तूणीर में सजे तीर हो गये हैं जिनसे हित का आखेट किया जाता है।

...ऐसे जटिल व कुटिल समय में (कमलेश्वर ने एक पत्रिका के सम्पादकीय में किसी ख़ास लेखक को जटिल व कुटिल हिंदू कहा था) आँखें खुली रहें तो क्या क्या दिखाई नहीं देता!

सबसे बड़ी बात यह दिखती है कि सेल्फ़ रेस्पेक्ट रिसती जा रही है। फिर तो कुछ भी संभव है। कोई भी अंग कमज़ोर हो सकता है। कोई भी रोग घेर सकता है।

एक दिलचस्प बात याद आई। वरिष्ठ व्यंग्यकार अंजनी चौहान ज्ञान चतुर्वेदी के स्तंभ लेखन की एक पुस्तक प्रकाशित कर रहे हैं। जिसकी सूचना देते हुए मैंने फेसबुक पर लिखा, 'ज्ञान है तो व्यंग्य है, यह बात तो पत्थर की लकीर बन चुकी है। इसी क्रम में एक ज़रूरी सूचना। तहलका पत्रिका में प्रकाशित कॉलम ज्ञान है तो जहान है के तमाम लेख अब किताब के रूप में बहुत शीघ्र पूरी सज-धज के साथ छप कर ज्ञान चतुर्वेदी के पाठकों और प्रशंसकों के लिए उपलब्ध हो रहे हैं ! यह पुस्तक मरीज़ों के साथ-साथ चिकित्सकों के लिए भी बहुत उपयोगी है ! और हाँ, उनको भी पढ़नी चाहिए जो व्यंग्य के लाइलाज मरीज़ होते हुए ख़ुद को डॉक्टर आफ़ सेटायर समझते रहे हैं। इस किताब का अंश पढ़ते पढ़ते एक संवाद बन गया।

'अंजनी चौहान : देखो तो सुशील, ज्ञान चतुर्वेदी ने अपनी किताब ज्ञान है तो जहान है में ऑस्टियोपोरोसिस पर कितना अच्छा लिखा है।

सुशील : सर ये होता क्या है?

अंजनी सर : इसमें हड्डियाँ कमज़ोर हो जाती हैं।

सुशील : सर, मैंने इस क्षेत्र में एक नयी बीमारी का पता लगाया है।

अंजनी सर : (हैरत से) अच्छा! वह क्या है?

सुशील : सर,उसका नाम है सेटाइयोपोरोसिस।

अंजनी सर : इसमें क्या होता है?

सुशील : सर,इसमें कुछ व्यंग्यकारों की रीढ़ की हड्डी कमज़ोर होने लगती है।

अंजनी सर : शाबास।'

....यह बात गंभीर है। लेकिन इस पर बात करने से लोग कतराते हैं। इसीलिए व्यंग्य लेखन में रचना, आलोचना, संवाद, विमर्श की तमाम दिक़्क़तें हैं।

मेरा एक कथन है- 'अच्छे लेखक को न पढ़ना उसकी हत्या है। ख़राब लेखक को पढ़ना आत्महत्या है।' व्यंग्य में हत्या और आत्महत्या का सुहाना समय चल रहा है।

(अगले अंक में जारी)

❑❑❑

किताबघर प्रकाशन, 4855-56/24
अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली 110002,
मोबाइल 9868076182

स्वातंत्र्योत्तर आदिवासी काव्य में समाज और संस्कृति

रजनी मल्होत्रा

आदिवासी काव्य पर कुछ लिखने से पहले हमें ये जानना ज़रूरी होगा आदिवासी कौन हैं ? आदिवासी समाज क्या है ?और उनकी संस्कृति क्या है ?

आदिवासी समाज -- वास्तव में एक ऐसा समाज है, जिसने अपनी परम्पराएँ और रीति-रिवाज संरक्षित रखे है। अपने जल, जंगल-ज़मीन में सिमटा यह समाज शैक्षिक आर्थिक रूप से पिछड़ा होने के कारण राष्ट्र की विकास यात्रा के लाभों से वंचित है। डॉ. रमणिका गुप्ता आदिवासियों के विषय में अपना अभिमत व्यक्त करते हुए लिखती हैं, ''यह सही है कि आदिवासी साहित्य अक्षर से वंचित रहा, इसलिए वह उसकी कल्पना और यथार्थ को लिखित रूप से न साहित्य में दर्ज कर पाया और न ही इतिहास में। हाँ लोकगीतों, किंवदन्तियों, लोककथाओं तथा मिथकों के माध्यम से उसकी गहरी पैठ है।''1

यह सच है कि दलित तबका शिक्षा, विकास तथा धनार्जन के मूलभूत अधिकारों से वंचित रखा गया, किन्तु ऐतिहासिक तथ्य यह है कि अंग्रेज़ों को भारत से खदेड़ने के लिए पहला विद्रोह तिलका माँझी ने सन् 1824 में उस समय किया था, जब उन्होंने अंग्रेज़ कमिश्नर क्लीवलैण्ड को तीर से मार गिराया था। सन् 1765 में खासी जनजाति ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह किया था। सन् 1817 ई. में खानदेश आन्दोलन, सन् 1855 ई. में संथाल विद्रोह तथा सन् 1890 में बिरसा मुंडा का आन्दोलन अंग्रेज़ों के विरुद्ध आदिवासियों के संघर्ष की गौरव गाथाएँ हैं, किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि इतिहाकार 1857 ई. को ही नवजागरण का प्रस्थान बिन्दु मानते हैं और आदिवासियों के सशस्त्र विद्रोह की उपेक्षा कर देते हैं। यह अत्यन्त क्षोभ की बात है कि जिन आदिवासियों ने भारतभूमि को अंग्रेज़ों के चंगुल से बचाने के लिए संघर्ष छेड़ा, उन्हीं दीन-हीन अबोध आदिवासियों को स्वाधीनता मिलने के बाद से ही विकास के नाम पर उनके जल, जंगल और जमीन से खदेड़ने का कार्य शुरू कर दिया गया।

परिणाम यह हुआ कि जिन जंगलों में आदिवासी पर्यावरण के साथ एकात्मता स्थापित करते हुए निवास किया करते थे, उन्हें विकास की आवश्यकता के नाम पर उजाड़ दिया गया और वहाँ पर बड़े-बड़े कल-कारखाने, खदान, बाँध आदि बना दिए गए।

आदिवासियों की संस्कृति का सर्वाधिक उज्ज्वल पक्ष है समानता।

प्रत्येक कर्म उल्लास के क्षणों में किसी मुद्दे की बैठक हो या नृत्य। ये जियो और जीने दो में ये विश्वास रखते हैं।

इसी विचारों के संदर्भ में है महादेव टोप्पो की एक कविता-

''माँदर का साथ
लेकिन हम गाते रहेंगे माँदर की थाप पर।धरती की साँसों के गीत।
धरती के हरियाली के गीत।
नदियों के कल-कल लयबद्ध तालों के साथ। पहाड़ों की ठंडी शांत हवाओं के साथ। 2

रामदयाल मुंडा अपनी एक प्रार्थना में कहते हैं इन पंक्तियों के आशय ये बतलाता है आदिवासी समाज मृत्यु के बाद भी अपने पूर्वजों को अपना साया अपना रक्षक बना कर साथ रखने पर बल देता है देखिए पँक्तियाँ-

हमारे बूढ़े पुरखे,
हमारे पितृ पूर्वज
फलाना बूढा,
फलानी बूढ़ी
इत्यादि।
तुम्हारे बनाए गए रास्ते का,
तुम्हारे मार्ग का हम अनुसरण करते हैं
हम तुम्हें बुलाते हैं'' 3

कर्मा पर्व सम्बंधित एक लोक गीत जिसे कर्मा पर्व पर बिरसा मुंडा को याद कर आदिवासियों द्वारा गाया जाता है-

''खूँटकट्टी देश मे,
बिरसा का नाम लिखा हुआ है
बिरसा के नाम का प्रचार - प्रसार
सखुआ के पत्तों पर हो रहा
धरती और आकाश में
आदिवासियों के देश मे
बिरसा का नाम लिखा हुआ है
उसका नाम उड़ रहा
धरती और आकाश में
इमली के पत्तों की तरह''4

आदिवासी साहित्य की विधाओं में 'कविता' महत्त्वपूर्ण विधा रही है। महत्त्वपूर्ण इस बात में रही है कि आरंभिक और ज़्यादातर आदिवासी साहित्य गीत या कविता के माध्यम से हमारे सामने आता है। आदिवासी कवियों में निर्मला पुतुल, वाहरु सोनवणे, हरिराम मीणा, अनुज लुगुन, केशव मेश्राम, महादेव टोप्पो, डॉ. मंजू ज्योत्सना, सरिताबड़ाइक, डॉ. राम दयाल मुंडा, दिनानाथ मनोहर, आदि का नाम विशेष रुप से लिया जाता है। इन कवि - कवयित्रियाँ ने अपनी कविताओं के माध्यम से अपना भोगा हुआ सत्य और साथ

ही अपने समाज की सामाजिक वैयक्तिक जीवन-संघर्ष की समस्याओं को व्यक्त किया है। आदिवासी कविताओं में कहीं पर संस्कृति सम्बंधित तो कहींसामाजिक विद्रोह, नारी का जीवन-संघर्ष, विस्थापन, अस्तित्व की समस्या और शिक्षा जैसी समस्याएँ प्रमुख रुप से देखी जाती हैं। जिसके लिए आदिवासियों को समय समय पर आंदोलन, विद्रोह, क्रांति करनी पड़ी है। साहित्यिक दृष्टि से यदि आदिवासी स्वर का मूल्यांकन किया जाए तो हम पाते हैं कि आज के आदिवासी अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होते जा रहे हैं, तथा उन्हें तथाकथित सभ्य शहरियों की दुरूहता का भान होने लगा है।

निर्मला पुतुल अपनी कविता ''तुम्हारे अहसान लेने से पहले सोचना पड़ेगा हमें'' में आदिवासियों की इसी सोच को अपनी भावना की अभिव्यक्ति देते कहती है-

''अगर हमारे विकास का मतलब
हमारी बस्तियों को उजाड़कर कल-कारखाने बनाना है।
तालाबों को भापकर राजमार्ग,
जंगलों का सफाया कर ऑफिसर्स कॉलोनियाँ बसाती हैं,
और पुनर्वास के नाम पर हमें
हमारे ही शहर की सीमा से बाहर हाशिए पर धकेलना है
तो तुम्हारे तथाकथित विकास की मुख्यधारा में
शामिल होने के लिए
सौ बार सोचना पड़ेगा हमें।'' 5

आदिवासी वास्तव में भारत भूमि की आदिम संस्कृति के पहरुए हैं। यह वह संस्कृति है, जिस पर अन्य संस्कृतियों का हमला नहीं हो सका है और जिसने अपनी परम्पराओं को इक्कीसवीं सदी के दुष्चक्रों के बावजूद सहेजकर रखने में कामयाबी पाई है लेकिन फिर भी इनके साथ जो अत्याचार हो रहा है, उसका चित्रण डॉ. भीम अपनी कविता ''हम आदिवासी हैं'' में करते है-

इस देश के मूल निवासी हैं,
हम आदिवासी हैं,
हम आदिवासी हैं।
हमारा जीवन सहज
सरल एवं न्यायपूर्ण है फिर भी,
सदियों से शोषण का चक्र चला,
सदा उसने हमें दबोचने का यत्न किया
सत्ताधारी, पूँजीपति
सेठ, साहूकार, ठेकेदार
पुलिस, सरकारी कर्मचारी
सबने हमारा शोषण किया,
दमन किया
जल, जंगल, जमीन से
पहाड़ों, झीलों एवं नदियों से
हमें बेदखल करने का भरपूर प्रयास किया
हमारी रोजी-रोटी हड़पने का ज़ोरदार यत्न किया
हम आदिवासी हैं''6

आदिवासियों का घर सदियों से जंगल में रहा। वो जंगल में रहता आया है। उसने प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग किया है परंतु उसे कभी नुकसान नहीं पहुँचाया विकास के नाम पर जंगलों को उजाड़ा जा रहा है। जो जंगल की रक्षा करते थे उनको विस्थापित किया जा रहा है। आदिवासी अपने आँखों के सामने पेड़ों को कटने नहीं देता, क्योंकि पेड़-पौधे, पक्षियों, पहाड़, जंगल को वो प्रकृति के प्रतीक रूप में पूजा करता आया है। वह जंगल कटने का विरोध करता है, उस हर बात का विरोध करता है जो आदिवासी सभ्यता को नुकसान पहुँचा रहे। आदिवासी कलम में आज विश्वास भर गया है इसलिए महादेव टोप्पो कहते है-

''वह धनुष उठाएगा,
प्रत्यंचा पर कलम चढाएगा,
साथ में बाँसुरी और माँदर भी जरुर उठाएगा,
जंगल के हरेपन को बचाने के खातिर,
जंगल का कवि,माँदर बजाएगा
चढ़ा कर प्रत्यांचा पर कलम '' 7

अनुज लुगुन की एक मशहूर कविता है ''अघोषित उलगुलान''। आदिवासियों को जीने के अधिकार के लिए किस तरह संघर्ष करना पड़ रहा व किन समस्याओं से होकर गुज़रना पड़ रहा है, इसका चित्र खींचते हुए चलते हैं देखिए इस कविता में कि कंक्रीट के जंगलों से प्रकृति के जंगलों को बचाने के लिए ज़हर बुझे तीरों से उन्हें किस प्रकार युद्ध करना पड़ रहा है-

''वे जो शिकार खेला करते थे निश्चिंत
ज़हर बुझे तीर से,
या खेलते थे रक्त-रंजित होली,
अपने स्वत्व की ऑच से।
खेलते हैं शहर के
कंक्रीटीय जंगल में
जीवन बचाने का खेल
शिकार-शिकार बने फिर रहे हैं
शहर में,
अघोषित उलगुलान में
लड़ रहे हैं जंगल।'' 8

आदिवासी काव्य का स्वर विद्रोही, क्रांतिकारी व अधिकारों के प्रति जागरूकता से भरा हुआ है। जहाँ एक ओर अपने समाज और संस्कृति को बचाने की कोशिश है तो दूसरी ओर स्त्री की अस्मिता को लेकर कई प्रश्नचिन्ह भी दाग रहे।

देखते हैं निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी अस्मिता से अलग कर स्त्री-अस्मिता का कोई अस्तित्व नही है। इस कविता में आदिवासी स्त्री-जीवन के असंख्य आख्यान हैं। घर और घर से बाहर जिस गहरे दु:ख के अभिशाप को वह निरंतर झेलती हैं ये कविताएँ उसका बयान हैं। आदिवासी जन-समाज में स्त्री हो या पुरुष तथाकथित ऊँची जातियों द्वारा इतने विवश कर दिए गए हैं कि वे विरोध ही नही पाते। शायद इसीलिए बस्ती में आग लगे, जुलूस निकले, कुछ भी हो जाए पुरुषों ने अपने दु:ख को और अपने साहस को बाँसुरी की आवाज़ में दबा कर लुप्त कर दिया। इसी दुख को कवयित्री कहती नज़र आती है। उसकी स्त्री हर-बार चुप रहकर उसकी निष्क्रियता को नहीं झेल सकती-

''इस बार मैं चुप नहीं रहूँगी,
छीन कर तोड़ दूँगी तुम्हारी बाँसुरी
कि देखो इस बार
वो मुझे उठाने आ रहे हैं''9

उठा लिया जाना, यौन-शोषण, आदिवासी स्त्रियों के जीवन की बहुत बड़ी हकीकत है। कैसी हैवानियत की शिकार होती हैं ये स्त्रियाँ। घर का दरवाज़ा खोलकर सोने में डरती हैं। और बन्द दरवाज़े से भी आवाज़ न आने का डर सताता है उन्हें। कब कौन आकर उन्हें उठा ले जाए ! अखबार के पन्ने रंगे रहते हैं ऐसी वारदातों के बयान से। कविताओं में कभी सीधे कभी सांकेतिक रूप में ऐसी घटनाओं का वर्णन करती हैं। पीड़ा इस बात की है कि, आतताई कौन किस भेष में उनका सौदा कर देगा यह साफ़

नहीं। 'महज़ बोतल भर दारु और एक मुर्गे' के लिए प्रसव-पीड़ा सहकर जन्म देने वाली माँ ने अपनी बेटी को वहशी दरिंदों के हवाले कर दिया या फिर किसी छोटे-से एहसान के बदले बापू ने मूर्ख बनकर बाघ से दुष्ट आदमियों के हवाले कर दिया। अपना पति भी उसके साथ दरिंदगी कर सकता है। यह नृशंसता की सीमा है जहाँ मानवीय संवेदनाएँ इस कदर मर जाती हैं कि मनुष्य और पशु का अंतर ही न दिखाई पड़े। दैहिक-शोषण जैसे इस समाज में स्त्री की स्वीकृत नियति है। इसलिए कहीं कोई चीख-पुकार नहीं, बस प्रताड़ित स्त्री के गले में अवरुद्ध हो गई चीत्कार भर है जिसे वह चाहकर भी भूल नहीं सकती-

''कैसे भूल जाऊँ,
वह राक्षसी रात।
जिसमें दुनिया की सारी संवेदनाएँ,
मेरा सबसे ऊँचा विश्वास,
पवित्र रिश्ते की आस्था
सबकुछ लुट गया''10

विकास की राजनीति एवं बाज़ार के प्रसार ने वहाँ के स्त्री-जीवन को भी अछूता नहीं छोड़ा। स्त्री को मात्र पदार्थ या भोग्या समझने वालों ने यदि उसकी देह का शोषण किया तो बाज़ार की बदलती अर्थ-नीतियों ने अपने घर से उन्हें बेदखल कर शहरों की श्रम मंडी में लगभग उनके लिए मानव-तस्करी की स्थितियाँ पैदा कर दीं। शहरों में घरेलू काम-काज के लिए आदिवासी लड़कियों को लाते हैं फिर इन लोग गाँव-घर की लड़कियों को निगल जाते हैं। गाँवों से इन लड़कियों का शहरों की ओर विगमन इतनी बड़ी संख्या में हो रहा है कि सभी घर खाली हो रहे हैं लेकिन शहर आकर वो लडकियाँ कहाँ गईं उसकी खबर भी किसी को नहीं लगती। निर्मला पुतुल अपने देश की उन सभी लड़कियों को ढूँढ रही हैं जो रोजगार के नाम पर गाँव से शहर तो आईं पर उनका यौन शोषण कर या तो मार दिया गया या वो बेच दी गईं।

''कहाँ हो तुम माया ? कहाँ हो ?
कहीं हो भी सही सलामत या,
दिल्ली निगल गई तुम्हें।
क्या सचमुच इतने लोगों से होकर गुज़री तुम,
या वे सबके सब ही गुज़रे
अनचाहे तुम्हारी जिंदगी से ?
दिल्ली नहीं है हम जैसे लोगों के लिए।
क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता माया
कि वह ऐसा शमशान है जहाँ
ज़िंदा दफ़न होने के लिए भी लोग
लाइन में खड़े है ?
झारखण्ड की धरती,
संताल परगना की माटी,
दुमका के पहाड़
और काठीकुंड के उजड़ते
जंगल पुकार रहे हैं तुम्हें।
तुम जहाँ भी हो लौट आओ माया !
लौट आओ'' 11

निर्मला पुतुल आदिवासी स्त्रियों से मुक्ति की आकांक्षा को बलवती करने का बार-बार आह्वान करती हैं कि 'उठो और अपने अँधेरों के खिलाफ लड़ो'। निर्मला की कविताओं में लाचारी के कितने ही बिंब क्यों न हों उनकी कविता का बीज स्वर मुक्ति का है, पराजय का नहीं। आत्मबल ही उसका सहारा है यही हथियार भी हैं और ढाल भी।

स्त्रियों को इतिहास में जगह नहीं मिली इसलिए हम स्त्रियाँ लिखेंगी अपना इतिहास।

''हम खून से लिखेंगे,
अपना इतिहास
आँसू से नहीं,
हम भूगोल की सारी सीमाएँ लाँघकर,
पहुँच जाएँगे इतिहास के उस गलियारे में
और
दर्ज करेंगे अपना सशक्त हस्ताक्षर।'' 12

जहाँ इस कविता में आदिवासी स्त्री की इच्छाशक्ति एक नए बदलाव करने की चाह रखते हैं तो दूसरी ओर ही 'पहाड़ी स्त्री' कविता में स्त्री की श्रम शक्ति के साथ उसके हौसले को चित्रित करती कवयित्री आदिवासी समाज मे श्रम को एक सम्मानित दर्जा प्राप्त है वो बताना चाहती है। कविता देखिए-

''चादर में बच्चे को पीठ पर लटकाए,
धान रोपती पहाड़ी स्त्री।
रोप रही है अपना पहाड़ सा दु:ख,
सुख की एक लहलहाती फसल के लिए''13

निर्मला पुतुल अपने समाज का जो चित्रण करती हैं वो दो महत्त्वपूर्ण कविताएँ हैं - 'माँ के लिए', ससुराल जाने से पहले', तथा 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा।' ससुराल जाने से पहले बेटी माँ को तरह-तरह से कुरेदती है कि वह घर-भर की धड़कनों में जिस तरह व्याप्त है उसे माँ कैसे भूला पाएगी। ऐसा ही अनुरोध पिता से भी है। 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा' में बेटी बाप से आग्रह करती है कि उसका ब्याह इतनी दूर न कर दें कि वे एक-दूसरे के सुख-दु:ख के भागीदार न हो पाएँ। इस कविता के विषय में वरिष्ठ कवि अरुण कमल ने लिखा -''यह ऐसी कविता है जिसमें एक-साथ आदिवासी लोकगीतों की सांद्र मादकता, आधुनिक भावबोध और प्रतिरोध की गंभीर वाणी गुम्फित हो।'' उतनी दूर मत ब्याहना की टेक लोकगीतों की सी है लेकिन बेटी जो माँग रही है वह आधुनिक भी है और प्रचलित लैंगिक संबंधो की असमानता पर चोट करने वाला भी। इस कविता में विधेय एवं निषेध की पंक्तियों से गुज़रते हुए अपनी बात कही गई है। उसे उस देश नहीं जाना जो पिता के घर से बहुत दूर हो, जहाँ आदमी से अधिक ईश्वर बसते हों। जंगल, नदी, पहाड़ न हों। खुला आँगन न हो। चढ़ता डूबता सूरज न दिखे। मोटरगाड़ियों और दुकानों-मकानों का शहर न हो। वर पढ़ना-लिखना न जानता हो, नशे में न डूबा रहे, बात-बात पर लड़ने को सन्नद्ध न हो। कमाने दूर देश न चला जाए। वह वहाँ जाएगी जहाँ से उसकी आवाज़ पिता तक पहुँच सके जहाँ ऐसा समतापूर्ण समाज हो कि शेर-बकरी एक घाटी पानी पिएँ। उसे उस पुरुष की तलाश है जिसके हाथों ने पेड़ लगाए हों। जो कबूतर के जोड़े-सा उसके संग साथ रहे, बाँसुरी बजाए, उसके लिए फूल चुन लाए और सबसे बढ़कर -

''जिससे खाया नहीं जाए,
मेरे भूखे रहने पर।
उसी से ब्याहना मुझे !'' 14

जहाँ एक ओर निर्मला पुतुल आदिवासी स्त्री की मुक्ति का आवाहन का स्वर पिरोती हैं वहीं वरिष्ठ कवयित्री ग्रेस कुजूर अपनी कविता में आदिवासी स्त्रियों को याद दिलाती हैं कैसे आदिवासी स्त्री योद्धा 'सिनगी दई' जिसके नेतृत्व में आदिवासी स्त्रियाँ रोहतास दुर्ग पर चढ़ाई की थीं।

दुश्मनों से लोहा लिया था।उस स्त्री युद्ध की स्मृति में प्रत्येक बारह वर्ष के अंतराल पर 'जनी शिकार' मनाने की परंपरा चली आ रही है। कविता कितनी जोश से भरपूर है।

''और अगर –
अब भी तुम्हारे हाथों की
अँगुलियाँ थरथराई !
तो जान लो मैं बनूँगी,
एक बार और
'सिनगी दई'
बाँधूँगी फेटा
और कसेगी फिरसे,
बेतरा की गाँठ
और होगा,
झारखंड में
फिर एकबार,
एक जबरदस्त जनी शिकार''15

झारखंड में दिकूओं के बढ़ते हस्तक्षेप और सरकारी नीति से असंतुष्ट होकर कैसे उसका उन्मूलन हो इसी बात के लिए आदिवासी स्त्रियों को ललकारती है कवयित्री फिरसे उनके अंदर की सैन्य शक्ति को जगाना चाहती है।

सरिता बड़ाइक अपनी कविताओं में औरत को मात्र वस्तु बनाना नहीं चाहती वह उनकी आज़ादी के लिए धरातल सजाती है। उनकी कविता में स्त्री पात्र ग्रामिण परिवेश के साथ एक अलग चित्र प्रस्तुत करती है। जैसे करमी, बुधनी, फुगनी, सुगिया अपनी रोजमर्रा के कामों के साथ यथार्थ अस्तित्व में हैं। उनकी 'मुझे भी कुछ कहना है' कविता में अपने प्रियवर के लिए स्त्री के अस्तित्व का संदेश देती है। वह अपनी जीवन के हर उम्र को कैसे झेलती है और घर के सदस्यों को चुल्हे से लेकर बिस्तर तक ख़ुश रखकर भी कैसे खपती है स्पष्ट चित्र देती है। वह विद्रोही स्वर में उसे नकारती है --

''चूल्हे बिस्तर की परिधि में,
मुझे नहीं है रहना,
गऊ चाल में चलकर नहीं है थकना,
मन में भरी है कविता।
मंज़ूर नहीं है थमना,हे प्रियवर...'' 16

सरिता की कविताओं के संबंध में रमणिका गुप्ता कहती है– ''सरिता की मोर पंखी भाषा इतनी बहुरंगी है कि झारखंड के हर तेवर को पकड लेती है। वे न केवल झारखंड के गाँवों की धड़कनों को स्वर देती हैं बल्कि झारखंड के हर निवासी की, चाहे वह किसी आयु, स्तर, वर्ग, वर्ण का क्यों न हो उनके बिंब सरल-सहज शब्दों में खड़ा कर देती है।''17

आदिवासी कवि में भुजंग मेश्राम का चर्चित नाम है जिनके काव्य संग्रह 'उलगुलान को राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर के पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। इसी काव्य संग्रह से एक कविता ग्रांड फादर क्रिश्चियन पादरियों की पोल खोलती हुई क्या कहती है देखें–

''वे आए तब,
उनके हाथों में था बायबल,
और हमारे हाथों में ज़मीन।
वे बोले ईश्वर के पास कोई भेद नही है,
कोई काला या गोरा करो प्रार्थना,
बंद करो आँखे,
हमने आँखें बंद की
अब आशा से आँखे खोली तो देखा,
उनके हाथों में ज़मीं थी !
और हमारे हाथों में बायबल''18

इस कविता के द्वारा मेश्राम आदिवासियों को दिकूओं द्वारा छले जाने और आँखे मूँद कर धर्म पर विश्वास करने के दर्द को चित्रित करते हैं।

आदिवासी अपने अस्तित्व पर हो रहे अत्याचारों से इतना सशक्त हो गया कि उसे अब आनेवाली किसी भी संकट का सामना करने के लिए दृढ़ विचार मिल गए,वो हारना नही चाहता बल्कि मजबूती से डटे रहना चाहता है। ऐसा ही रवि कुमार गोंड़ की इस कविता में आए भाव के चित्रण को देखते हैं।

''जब आदिवासियों का कारवाँ चलता है
मंज़िलें ख़ुद ब ख़ुद आसान हो जाती हैं।
उनके पैरों में इतनी ताक़त है,
ठोकर लगने से मिला हर ग़म भी,
ख़ुशनुमा बन जाती है।
जोर आजमाइश में बीत गई
सारी जिंदगी उनकी।
वह अब भी मंज़िल- ए-सफ़र की
चाह में करते रहे बन्दगी''19

आदिवासी समाज अपनी संघर्ष की पीड़ा से घनिभूत होकर गुज़र रहा। अपनी भाषा,संस्कृति,लिपि को अपनी धरोहर को बचाने के लिए उसकी जद्दोजहद जो एक वचनबद्धता सी है अपने पूर्वजों से।

रवि कुमार गोंड की ही एक और कविता कहती है

''मैं वचनबद्ध हूँ
आदिवासी संघर्ष,पीड़ा के प्रति
लेखन करने को।
मैं प्रतिबद्ध हूँ,
उनकी भाषा- साहित्य, लिपि को,
संजोने,सँवारने के लिए
मैं कटिबद्ध हूँ,
उन्हें अपना अधिकार
दिलाने के लिए,
मैं जिज्ञासु हूँ,
आदिवासी समाज और साहित्य का
पुनर्मूल्यांकन करने के लिए।
मैं नमन करता हूँ उन आदिवासी
शूरवीरों को
जिन्होंने
क्रांति का नया इतिहास रचा'' 20

आइए कुछ ऐसे गीतों से मिलते हैं जो आदिवासियों के पुरखा गीतों में आते हैं। जगदीश त्रिगुणायत द्वारा संग्रहित 'बाँसुरी बज रही' से ली गई एक गीत देखते हैं।

''सतयुग और कलयुग!
पहले सतयुग था।
सतयुग और कलयुग!
अब कलयुग आ गया
जब सतयुग था
तब लोग रस्सी बाँधा करते थे,
अब कलयुग आ गया है
अब लिखकर हिसाब करते हैं,
जब तक लोग रस्सी बाँधा करते थे
दुनियाँ को टिकाए हुए थे
जब लोग लिखने लगे
तब देश को बर्बाद कर दिया''21

इस पुरखा मुंडारी गीत में आदिवासी समाज पर हिन्दू धर्म दर्शन की कुठाराघात को मुख्य रूप से ज़िम्मेवार ठहराया गया है। जिसके दर्शन के तत्त्व लोगों की सोच में शामिल होकर देश की बर्बादी का रास्ता तैयार कर गए। पहले (सतयुग)मानवीय मूल्यों का बहुत महत्त्व था। इंसान इंसान के काम आता था भावनाएँ आदमी के कहे पर लेन देन का विश्वास रखती थी, पर अब कलयुग में लिख कर हिसाब- किताब का रखा जाना एक दूसरे पर से उठता विश्वास को दर्शाता है। सम्पति अर्जन, पैसों की प्रधानता धोखेबाजी, बेईमानी जो दिकू समाज के लोगों की प्रधानता बनी हुई है।

आपस में लड़-झगड़ रहे जिससे फूट की भावना का जन्म लेने के कारण देश बर्बादी की ओर जा रहा।

दुलाय चंद मुंडा की गीत संग्रह 'बम्बरू' (मशाल) परंपरागत गीत शैली की पुस्तक है। देश प्रेम, जाति प्रेम, संस्कृति प्रेम, सामाजिक उत्पीड़न, मिलन विरह की विशेषताओं से भरी इन गीतों में कुछ गीतों को देखते हैं।

''बम्बरू(मशाल)
लो इस मशाल को पकड़ो,
ले जाओ,
किधर,
जिधर, सूर्य अस्त होता है।
जिधर चाँद डूबता है,
जिधर अंधकार फैलता है।
उधर ही प्रकाश फैलाते रहो,
अंधकार में जो हैं,
वे निस्सहाय न हो जाएँ''22

कवि बताना चाहता है यदि हाथों में मशाल हो तो कैसा भी रास्ता हो कितना भी अंधकार हो सफर आसान हो जाता है। दुलाय भी अपनी बम्बरू कविता के माध्यम से अपने आदिवासी भाईयों को मशाल बनने की प्रेरणा दे रहे। जिधर अंधकार है तुम उस दिशा में मशाल को जला कर चलो जितने भी अंधकार में हैं कहीं वे पथ भूल न जाएँ। उनकी राहों को प्रकाशवान करो।

वर्तमान समय में आदिवासी अपनी पीड़ाओं का क्रंदन कर आदिवासी काव्य को समृद्ध कर रहा। जहाँ एक ओर आदिवासी अपनी कविता में अपनी परंपरा का गान करता दिख रहा। वहीं दूसरी ओर अपनी समाज संस्कृति को बचाने की पूरी कोशिश जारी है। कविताओं में प्रकृति को बचाने का प्रयास, प्रकृति के नष्ट होने से पनपा दर्द। विस्थापन का दर्द तो कहीं स्त्रियों की सामाजिक हालातों को लेकर घोर चिंता है। आदिवासी संस्कृति में प्रकृति से प्रेम, आपसी भाईचारा, लालच द्वेष से दूरी। तथा सबसे बड़ी बात संस्कृति को बनाए रखने का प्रयास। यदि हमें प्राकृतिक धरोहर को अपनी संस्कृति को खत्म होने से बचाना है तो, आदिवासी संस्कृति को एकबार जानना होगा। आदिवासी काव्य को आज सभी के साथ कि आवश्यकता है, जिससे वो विकास की अवस्था को पार करते हुए अपनी मंज़िल को पा ले।

संदर्भ सूची : 1. डॉ. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ-10, 2. महादेव टोप्पो की चौबीस कविताएँ कविता संग्रह .पृष्ठ स.12, 3.आदिवासी दर्शन और साहित्य पृष्ठ संख्या 81, 4. आदिवासी दर्शन और साहित्य पृष्ठ संख्या 89, 5. अरावली उद्घोष पत्रिका से उद्धृत निर्मला पुतुल की कविका 'तुम्हारे अहसान लेने से पहले सोचना पड़ेगा हमें, पृ0-93, 6.संकल्प पत्रिका में प्रकाशित डॉ.भीम की कविता' हम आदिवासी हैं 'पृ0-227, 7. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी- सं. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, संस्करण: 2008. पृष्ठ सं-47, 8.कविता कोश से उद्धृत अनुज लुगुन की कविता, 9. और तुम बाँसुरी बजाते रहे, बेघर सपने, पृ. 21, 10 .सबसे डरावनी रात, बेघर सपने पृ.14, 11.तुम कहाँ हो माया?, अपने घर की तलाश में, पृ. 31-33, 12. स्त्रियाँ लिखेंगी अपना इतिहास, बेघर सपने पृ. 7, 13.आदिवासी दर्शन और साहित्य पृष्ठ संख्या 82, 14.उतनी दूर मत ब्याहना बाबा, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ.52,15 .जनी शिकार, आदिवासी दर्शन और साहित्य', पृष्ठ संख्या 47, 16.नन्हें सपनों का सुख- सरिता बड़ाइक, प्रका.रमणिका फाउंडेशन, संस्क.-2013 पृष्ठ सं.108,17.नन्हें सपनों का सुख- सरिता बड़ाइक, प्रका. रमणिका फाउंडेशन, संस्क.-2013 पृष्ठ सं.VIII, 18.कविता ग्रांड फादर, पुस्तक समय की दस्तक देती आदिवासी कविता, पृष्ठ संख्या 41,19.कविता संग्रह 'आदिवासी स्वर' रवि कुमार गोंड़, पृष्ठ संख्या 1,20.कविता संग्रह 'आदिवासी स्वर' रवि कुमार गोंड़, पृष्ठ संख्या 16,21.मुंडारी गीत, जगदीश त्रिगुणायत, आदिवासी दर्शन और साहित्य पृष्ठ संख्या, 143, 22.बम्बरू(मशाल) - दुलाय चंद मुंडा, आई. डी. पब्लिशिंग राँची सन्स 2012 पृष्ठ संख्या 2

❐❐❐

नैय्यर भवन, जी.एम. कॉलोनी
बोकारो थर्मल पावर स्टेशन
जिला -बोकारो, पिन - 829107
झारखण्ड
मोबाइल: 9110184090
rajni.sweet11@gmail.com

फार्म IV

समाचार पत्रों के अधिनियम 1956 की धारा 19-डी के अंतर्गत स्वामित्व व अन्य विवरण (देखें नियम 8)।

पत्रिका का नाम : शिवना साहित्यिकी

1. प्रकाशन का स्थान : पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मप्र, 466001

2. प्रकाशन की अवधि : त्रैमासिक

3. मुद्रक का नाम : जुबैर शेख़।

पता : शाइन प्रिंटर्स, प्लॉट नं. 7, बी-2, क्वालिटी परिक्रमा, इंदिरा प्रेस कॉम्प्लैक्स, ज़ोन 1, एमपी नगर, भोपाल, मप्र 462011

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

4. प्रकाशक का नाम : पंकज कुमार पुरोहित।

पता : पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मप्र, 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

5. संपादक का नाम : पंकज सुबीर।

पता : रघुवर विला, सेंट एन्स स्कूल के सामने, चाणक्यपुरी, सीहोर, मप्र 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

4. **उन व्यक्तियों के नाम / पते जो समाचार पत्र / पत्रिका के स्वामित्व में हैं। स्वामी का नाम :** पंकज कुमार पुरोहित। **पता :** रघुवर विला, सेंट एन्स स्कूल के सामने, चाणक्यपुरी, सीहोर, मप्र 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

मैं, पंकज कुमार पुरोहित, घोषणा करता हूँ कि यहाँ दिए गए तथ्य मेरी संपूर्ण जानकारी और विश्वास के मुताबिक सत्य हैं।

दिनांक 20 मार्च 2017

हस्ताक्षर पंकज कुमार पुरोहित
(प्रकाशक के हस्ताक्षर)

संस्मरण

इन्डियन फ़िल्में और लड़कियाँ

सबूहा ख़ान

(सबूहा ख़ान पाकिस्तान की सुप्रसिद्ध लेखिका हैं। भारत में जन्मीं तथा दो साल की उम्र में विभाजन के दौरान पाकिस्तान गईं सबूहा ख़ान ने अभी तक छह पुस्तकें लिखी हैं- 1. दिल्ली से डिफेंस, 2. अपना देश अपने लोग, 3. इंडिया इंडिया, 4. मेहवर की तलाश, 5. अब के सावन घर आ जा, 6. परतवे ख़याल। पहली चारों पुस्तकें यात्रा संस्मरण हैं लेकिन उनको सबूहा ख़ान ने क़िस्सागो के अंदाज़ में लिखा है किसी कहानी की तरह। दिल्ली से डिफेंस भारत-पाक विभाजन पर केंद्रित है। इंडिया इंडिया उनका चर्चित यात्रा संस्मरण है जो भारत की उनकी यात्रा को लेकर है। अपने पुरखों के देश की यात्रा, उस देश की यात्रा जहाँ वे पैदा हुईं और फिर दो साल की उम्र में जिस देश को छोड़ना पड़ा। जहाँ 58 साल बाद उन्होंने यात्रा की। मेहवर की तलाश एक शोध पुस्तक है जिसमें सबूहा ख़ान ने उन लोगों के साक्षात्कार लिए हैं, जो अपनी मातृभूमि को छोड़ कर कहीं और विस्थापित होने पर मजबूर हुए, मगर जिनको अभी भी अपनी जड़ें अपनी मातृभूमि में ही महसूस होती हैं। चीन, ग्रीक, लेबेनान, भारत, पाकिस्तान, ईरान तथा इसी प्रकार के कई देश जहाँ के लोग विस्थापन का शिकार हुए, उनके साक्षात्कार इस पुस्तक में लिए गए हैं। अब के सावन घर आजा तथा परतवे ख़याल यह दोनों सबूहा ख़ान की कहानियों के संग्रह हैं। पाठकों के लिए प्रस्तुत है उनका भारत को लेकर एक संस्मरण, इसका अनुवाद किया है हिन्दी तथा उर्दू पर समान अधिकार रखने वालीं पाकिस्तानी लेखिका ज़ेबा अल्वी ने।)

आज कल एक शब्द बहुत लोक प्रिय है और वह है- Change यानी तबदीली-एक नारा जो हर किसी के होंटों पे है - We want Change... तो आज प्रगतिशील लेखक और उर्दू कान्फ्रेन्स भी इस नारे में शामिल हो गए हैं कि बहुत गम्भीर विषयों के अलावा आज फ़िल्मों पर भी बात होगी। क़री-अन्दाज़ी में जो विषय मेरे लिए निकला है वह है Subcontinent यानी पाक-भारत की फ़िल्में और लड़कियाँ... विषय सुन कर दिल खुश हो गया कि हमारी गिनती अभी भी लड़कियों में होती है... मगर साथ ही एक मशहूर इंडियन ड्रामा सीरियल याद आ गया - सास भी कभी बहू थी। सास भी कभी बहू थी... यानी हम कभी लड़की थे... चलें यही सही... मगर कम से कम इस बहाने हम अपनी भूली हुई यादों को जगा तो सकते हैं और हम यह बिलकुल नहीं कहेंगे कि भूली हुई यादों मुझे इतना न सताओ... क्योंकि हमें अपनी यादों से कोई शिकायत नहीं-

आज इस लड़की की यादों का यह आलम है कि तमाम यादें फ़ेड आउट और आउट आफ़ डेट हो चुकी है। इसकी प्रमाणता के लिए यह क़िस्सा जो पिछले हफ़्ते पेश आया कि एक गाना बेहद शिद्दत के साथ याद आया और हमने सुहैल क़दीर को फ़ोन किया कि वह यह गाना गाते हैं? सुहैल क़दीर हमारे उन जवान दोस्तों में से हैं जो चालीस और पचास की दहाइयों में हैं... गाना था-जिन रातों में नींद उड़ जाता है क्या क़हर की रातें होती है, दरवाज़ों से टकरा जाते हैं दीवारों से बातें होती हैं... सुहैल ने तआजुब से अपने फ़ोन को देखा क्योंकि वह हमारा मुशवाक चेहरा तो देख नहीं सकते थे...और कहने लगे बख़ुदा मैंने तो ज़िन्दगी में कभी यह गाना नहीं सुना... और हम जवाब सुन कर अपना सा मुँह लेके रह गए।

आज कल सुहैल क़दीर का ज़माना तो वह ज़माना है कि न दरवाज़ों से टकराने की ज़रूरत न दीवारों से बातें करने की बस स्काइप का एक बटन दबाना है और महबूबा सामने... अब बेचारे पीर-फ़क़ीर क्या करें जो तावीज-गंडे दिया करते थे। अगरचे इस क़िस्म के इशतेहारात आज भी नज़र आते है... कि कारोबार में मंदी... मुहब्बत में नाकामी...? महबूबा से जुदाई... पंद्रह दिन में माशूक सामने... पीरों, फ़क़ीरों का बिज़नेस तो ठप हो गया क्योंकि आजकल की टेकनोलॉजी से तो लम्हों में महबूब सामने... और पंद्रह दिन में तो महबूबाओं का ढेर लग सकता है... छमक छल्लो चाहिए तो वह मौजूद... लैला चाहिए तो वह मौजूद... बल्कि लैला ओ लैला... हूँ सबकी मैं लैला... गोया एक ज्वाइन्ट वेन्चर है... मजनूँ बेवक़ूफ़ ने एक लैला के लिए जान दे दी यहाँ लैलाओं की एक भीड़ है... हर क़दम पर एक नई लैला... क्योंकि We want Change... अब जब मैं अपने ज़माने से बात शुरू करूँगी तो आज कल की नस्ल से इतना ही कहूँगी कि - ऐ देखने वालो मुझे हँस हँस के न देखो... ये उमर कहीं तुमको भी मुझसा न बना दे।

शुरू की फ़िल्मों ने हमें दो च्वाइस दी थी कि या तो हम हन्टर वाली बन जाते या फिर लारा लप्पा गर्ल... ऊँहू... हंट्टर वाली बनने में बड़ा रिस्क था इसलिए हमारी नस्ल ने लारा लप्पा गर्ल बनने को प्राथमिकता दी... यह काम आसान था कि इसमें हमें केवल होंटों पर लाली लगानी थी, आँखों में कजरा मुहब्बत वाला और कानों में झुमका बरेली वाला डालना था और दुनिया हमारी जेब में थी।

कभी कभी मेरे दिल में ख़याल आता है... कि अगर फ़िल्म इंडस्ट्री न होती, इसमें यह म्यूज़िक या शायरी न होती तो हम जैसे दीवाने कहाँ जाते... ऐसा लगता है कि हमारी नस्ल बचपन ही से बड़ी रोमांटिक थी। क्योंकि जो सबसे पहला गाना मुझे याद आता है वह है - अँखिया मिला के जिया भरमा के चले नहीं जाना ... और यह गाना मैं 1947 में दो साल की उमर में अपने भाई के लिए गाती थी जो मुझसे पहले पाकिस्तान आ गए थे। अब उस उमर में जिया भरमाने का मतलब किसको पता था, यह तो फ़िल्मों का कमाल था

कि दो साल की उमर में हमें आशिक़ बना दिया क्योंकि बाद में यह गाना भाई के अलावा हमने और जगह भी इस्तेमाल किया। एक और गाना कुछ इसी तरह का मतलब लिए याद है जिसमें जाने वाले बालम को वापस बुलाया है कि ओ जाने वाले बालमवा लौट के आ... लौट के आ... अगर दोनों गानों को जोड़ दिया जाए तो एक में न जाने की इलतेजा और में लौट के आने की दरख़्वास्त है।

गोया बचपन से ही हमें इंडियन फ़िल्मों ने रस्ता दिखाया कि ज़िन्दगी भर हमें सिन्फ़े-नाज़ुक या दूसरे शब्दों में शाएर अल्लामा इक़बाल के मर्द-ए-आन की ख़ुशामद करते रहना है और उसे पूरी तरह क़ाबू में रखना है। दीदार का मशहूर गाना जो हर किसी की ज़बान पर था- बचपन के दिन भुला न देना, आज हँसे कल रुला न देना... हमारे सामने कोई ऐसा शख़्स नहीं था इसके बावजूद हम इस गाने की रट लगाते रहे। फिर फ़िल्म ''अनमोल घड़ी'' के साथ नूरजहाँ की अमर आवाज़ हर तरफ़ फैल गई कि- आवाज़ दे कहाँ है दुनिया मेरी जवाँ है... और हमने जब भी यह गाना गाया अम्मा से यही सुनने को मिला कि यह क्या बेहूदा गाने गाती हो। मगर यह तो तय था कि जो गाना हम गाएँगे वह बेहूदा ही होगा। अब इंडियन फ़िल्मों में शरीफ़ गाने तो हमें ढूँढ़े से नहीं मिलते थे। अब क्या हम सिर्फ़ सड़क के किनारे कटोरा लेकर यह गाना गाते कि - ग़रीबों की सुनो वो तुम्हारी सुनेगा... मगर ख़ैर- वो अपनी ख़ू न बदलेंगे हम अपना वज़ा क्यों बदले....

अम्मा ने यह कहना न छोड़ा - कि सुबह सुबह न ख़ुदा का नाम न रसूल का बस वही बेहूदा गाने... बचपन में हमें मुन्नी के नाम से पुकारा जाता था और आजकल का मशहूर गाना मुन्नी बदनाम हुई... शुक्र है हमारी अम्मा मर गई, अगर ज़िंदा होती तो यह गाना सुन कर पट से मर जाती... और इलज़ाम हमारे सर जाता। ख़ैर हम भी मुन्ना की तरह लगे रहे और गाते रहे कि... जादूगर सय्याँ छोड़ो मोरी बय्याँ हो गई आधी रात अब घर जाने दो... आवाज़ आती कि बन्द करो रेडियो... मगर हम कहाँ के सुनने वाले थे हमने अपनी तकरार जारी रखी कि... जिया बेक़रार है छाई बहार है आजा मोरे बालमा तेरा इंतज़ार है... हो... ओ... मुझे किसी से प्यार हो गया... बड़े अरमानों से रखा था बलम तेरी क़सम... मगर दिल के अरमाँ आँसुओं में बह गए... कोई दिल वाला मिला ही नहीं लेकिन हमने भी उम्मीद का दामन हाथ से कभी नहीं छोड़ा। जी चाहता था कि किसी तरह भाग कर लाहौर चले जाएँ और अपनी एक्टिंग के झंडे गाड़ दें मगर भाई की घूरती आँखों ने हमेशा रास्ता रोक दिया। पढ़ाई में कभी भूले से दिल नहीं लगाया, हमेशा यही उम्मीद रखी कि ... आएगा आएगा आने वाला... निम्मी की तरह दुपट्टा लेकर आँगन में बहुत दौड़ लगाई... मेरा लाल दुपट्टा मलमल का... कभी उदास हुए तो तान लगाई... मेरी आँखों में बस गया कोई रे मोहे नींद न आए मैं क्या करूँ..

अगरचे क़सम हो जो अम्मा के उठाए बग़ैर कभी नींद से जागे हों। सोने में हम जब भी माहिर थे और आज भी... उदास हुए तो यह भी गाया... ऐ मेरे दिल कहीं और चल... मगर जाएँ तो जाएँ कहाँ? बहुत उदास हुए तो मजाज़ का लिखा तलअत महमूद का गाया हुआ... ऐ ग़मे दिल क्या करूँ ऐ वहशते दिल क्या करूँ, गा लिया... एक मरतबा हमें याद है कि हम अपने बिस्तर पर लेटे गा रहे थे...मोरे सय्याँ जी उतरेंगे पार... और अपनी दर्द भरी आवाज़ से ख़ुद ही लुत्फ़-अन्दोज़ हो रहे थे कि अचानक दरवाज़ा खुला, देखा तो आपा दरवाज़े पर थी और उनके हाथ में हमारा लाल लकीरों से भरा रिपोर्ट कार्ड था...उनकी ग़ुस्से भरी आवाज़ कमरे में गूँज उठी... आज तो मैं तुम्हारे सय्याँ को पार उतार दूँगी....

और फिर ऐन आलम-ए-शबाब में दिलीप कुमार और राज कपूर वारिद हो गए... इन दो सूरतों के अलावा कोई सूरत आँखों में जँचती ही न थी... नतीजा यह हुआ कि हर लड़के ने अपने माथे पर बाल बिखेर लिए, पतलून के पाँएचे ऊँचे कर लिए... दूसरी तरफ़ हमने भी बहुत मरतबा अपनी लम्बी शक़्ल में नरगिस की झलक ढूँढ़ी... हर चौड़े चेहरे वाली ने अपने आपको निम्मी जाना... और हर लड़की ने यह जाना कि वह मधुबाला से कम नहीं...निम्मी की तरह छोटी-सी आवाज़ में बन-बन कर बात करनी चाही और हमेशा डाँट खाई... जी चाहता था कि कैसे घर से भाग कर फ़िल्म इंडस्ट्री ज्वाइन कर लें। शुक्र है कि हर बार भाई की घूरती आँखें आड़े आ गई। जब इस उम्मीद ने दम तोड़ दिया तो हमने एक और उम्मीद लगाई कि... राजा की आएगी बरात... ज़्यादती होगी अगर मैं राज कपूर के साथ पाकिस्तान के चाकलेट हीरो वहीद मुराद की बात न करूँ। उस ज़माने में यह हाल था कि जब स्क्रीन पर वहीद मुराद का चेहरा उभरता तो पूरे हाल में एक आह की आवाज़ आती थी। सड़क पर गुज़रने वाली लड़के आवाज़ लगाते थे... अकेले न जाना... सबके दिल-जान का अरमान वहीद मुराद थे और दिल में उसकी सूरत बसा कर लड़कियाँ सोचती थी कि हमारा घूँघट उठा कर भी कोई वहीद मुराद जैसा बाँका कहेगा कि... चौदहवी का चाँद हो... मगर जब घूँघट उठता था तो सामने कोई काँगड़ा सा आदमी खड़ा होता था... अरमानों का ख़ून हो जाता था फिर... हैराँ हूँ दिल को रोऊँ कि पीटूँ जिगर को मैं... कभी फ़िल्मों ने यह सोचने का मौक़ा ही न दिया कि घूँघट उठने पर राजकपूर या वहीद मुराद की जगह जानी वॉकर भी हो सकता है।

अपने ज़माने का एक और मशहूर गाना... मुग़ल-ए-आज़म मधुबाला यानी अनार कली अपने सलीम के लिए गाती है कि प्यार किया तो डरना क्या... यह गाना एक भूचाल की तरह आया और बहुत सी लड़कियाँ रातों-रात घरों से फरार हो गई और घर वालों के लिए एक रुक़्क़ा छोड़ दिया जिस पर लिखा था... परदा नहीं जब कोई ख़ुदा से... बहुत से बेवक़ूफ़ ग़ैरतमंद बापों ने ख़ुदकुशी कर ली, या फिर अपनी बीवी को जी भर पीटा कि... यह तरबीयत दी थी लड़की को...

मीना कुमारी ने फ़िल्मों में तवायफ़ों के किरदार को इस क़दर आसमान पर चढ़ा दिया कि अपने शरीफ़ होने पर शर्म आने लगी। जरा सोचिए फ़िल्म का नाम पाकीज़ा और कहानी तवायफ़ की... और गाना है... इन्हीं लोगों ने ले लीना दुपट्टा मेरा... हालाँकि इसमें शिकायत क्या... यही लोग तो हैं जो जब चाहे दुपट्टा उठा दें या उतरवा दें... जब जी चाहा मसला-कुचला, जब जी चाहा बाज़ार किया... ''साहब बीवी

गुलाम'' अपने ज़माने की मशहूर फ़िल्म, जिसका मशहूर गाना... न जाओ सय्याँ छुड़ा के बय्याँ क़सम तुम्हारी मैं रो पड़ूँगी... इसके बाद आँसुओं की ताक़त का इस्तेमाल करना हमने सीख लिया। और फिर आहें भी भरी शिकवे भी किए और ज़बान से भी ख़ूब काम लिया।

लड़कियों के अलावा लड़कों को इंडियन फ़िल्मों ने खूब कुछ सिखाया – जैसे कि लड़कियों को छेड़ने के तरीक़े... बस के इंतज़ार में खड़े हैं... हम बस में चढ़ने लगते हैं कि एक ज्याला आवाज़ लगाता है...रुक जा ओ जाने वाली... अकेले अकेले कहाँ जा रहे हो... अभी न जाओ छोड़ कर... मुझे याद है हम दोपहर को अपने कमरे में सो रहे होते थे कि गली से ठीक तीन बजे आवाज़ आती कि एक दिल फेंक नाली से मुँह लगा कर गाता... मेरे सामने वाली खिड़की में... या चिल्लाता... दिल्लाँ ठैर जा यार दा नज़्ज़ारा लैन दे... ऐसी आवाज़ कि कबर का मुरदा भी गड़बड़ा कर उठ खड़ा हो। चन्द दिन यह खेल जारी रहा। एक दिन हमने एक पानी की बाल्टी भर कर अपने पास रख ली और जब उसने दिल्लाँ का लम्बा नारा लगाया हमने वह बाल्टी उड़ेल दी। इसके बाद से हमारे घर में सुकून हो गया। एक दूसरे की अटेंशन डाइवर्ट करने के लिए इस गाने से भी काम लिया गया... तुम्हें जीवन की डोर से बाँध लिया है... यूँ समझें कि एक यादों की बरात है और इन यादों को फ़िल्मी गानों से चराग़ाँ करती चली जाती है– तेरा हाथ हाथ में आ गया कि चराग़ राह में जल गए...

फिर आजकल के गाने और फ़िल्में कि हम अपनी अम्माँ की तरह कहते हैं– क्या बेहूदा गाने हैं। अमिताब साहब ने एक फ़िल्म में नारा लगाया... जुम्मा चुम्मा दे दे चुम्मा, जुम्मे का वादा था... उसके बाद से चुम्मों की इतनी भरमार है कि जैसे चुम्मों की नीलामी हो रही हो... जैसे कि... चुम्मा चुम्मा दे दे चुम्मा... मैं राज़ी तू राज़ी हाँ फिर क्या मम्मा डैडी... और गाना पाकिस्तानियों के लिए बड़ा ख़ुशआइन्द कि जो काम पाकिस्तानी आर्मी न कर सकी, बल्कि कहिए कि समझ न सकी वह काम एक मामूली चुम्मा कर सकता था... एक इंडियन गाना है... एक चुम्मा तू मुझको उधार दे दे और बदले में दिल्ली बिहार लेले... यह आइडिया इमरान ख़ान साहब को देना चाहिए फिर दिल्ली बिहार तो क्या बम्बई भी हमारी झोली में आ गिरेगा। सवाल-जवाब हमारे ज़माने में भी होते थे... मगर बड़े माशूकाना... कि – बादल में क्या है, हमने कहा – सुनहरा आँचल... या आँखों में क्या जी अजब-सी हलचल... आजकल तो बक़ौल शाएर– इसके पीछे क्या है... और... विसके पीछे क्या है... बल्कि अब तो आजकल डायरेक्ट सवाल है... चोली के पीछे क्या है?... वक़्त ज़ाया करना नई माँगता बिजनेस की बात करो... मैं कहती हूँ क्या यह ज़रा सी आँग्या पहने कर यह लड़कियाँ नाचती है तो बेटा कहता है अम्मी आजकल यही बिकता है आप चैन से बैठें... हमारा वक़्त था कि अनार कलियाँ अपने सलीमों की ख़ातिर सब कुछ छोड़ कर भाग गई थीं और आज वही अनारकली कहती है... छोड़ छाड़ कर अपने सलीम की गली... अनारकली डिस्को चली... मगर आज न बेग़ैरत अब्बा ख़ुदकुशी करते हैं न कोई एहतेजाज करते हैं। अल्लाह जाने क्या हो गया है... बड़े बेहूदा गाने हैं... बन्द करो टी.वी.....

कहाँ गई ये फ़िल्में ख़राब करके मुझे। फ़िल्मों ने हमें ग़लतफ़हमी में मुब्तिला कर दिया था। हम समझते थे कि ज़िंदगी सिर्फ़ फूलों की सेज है मगर बाज़ दफ़ा ऐसा भी हुआ कि ज़िंदगी में धचके लगे, मुहब्बत भी मिली और झगड़े भी हुए, मिलने भी हुआ और जुदाई भी और हम ख़ुद की इस तरह सच्चाई की तरफ़ ले आए कि ...

...हर गुज़रते लम्हे से लुत्फ़-अन्दोज़ होना चाहिए... ज़िंदगी के सफ़र में गुज़र जाते हैं जो मकाम... हर मौक़े पर हमें फ़िल्मों ने ज़िंदगी के मुख़तालिफ़ रंग देखने का मौक़ा दिया... मैं आख़िर में फ़िल्मों के बारे में इतना ही कहूँगी कि फ़िल्मी गानों ने ग़म में और खुशी में तकलीफ में और राहत में, बहार में और ख़िज़ाँ में, बचपन में और जवानी में हर जगह हमारा साथ दिया और आज भी दे रहे है... कि अब हम सिर्फ़ जगजीत का यह गीत गाते हैं कि... चिट्ठी न कोई संदेश जाने वो कौन सा देस जहाँ तुम चले गए।

❐❐❐

नई पुस्तक

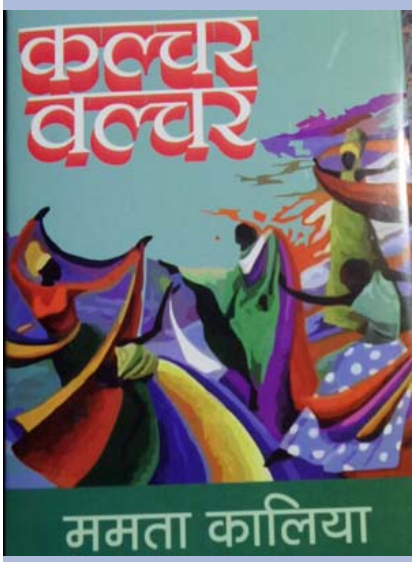

पुस्तक: कल्चर वल्चर
(उपन्यास)
लेखक : ममता कालिया
प्रकाशक: किताबघर
मूल्य : 350 रुपये, पृष्ठ : 208

वरिष्ठ कथाकार, उपन्यासकार ममता कालिया ने बहुत कुशलता के साथ कोलकाता की पृष्ठभूमि में इस उपन्यास की कथा बुनी है। महत्तर उद्देश्यों को लेकर अस्तित्व में आई एक साहित्यिक, सांस्कृतिक संस्था किस तरह विडंबनाओं, विरूपताओं, अंतर्विरोधों, कपट, कलह, चतुर चाटुकारिता तथा निजी महत्त्वकांक्षा का तलघर बन जाती है, यह तथ्य कल्चर वल्चर में उजागर हुआ है। लेखकीय कौशल यह है कि सारे चरित्र काल्पनिक होते हुए भी अपनी निष्पत्तियों में अत्यंत जीवंत हैं। अपनी प्रांजल तथा खिलंदड़ी भाषा के लिए ममता जी बहु प्रशंसित हैं। यह उपन्यास उनकी रचनात्मक सिद्धि का एक अभिनव आयाम है। अत्यंत पठनीय तथा महत्त्वपूर्ण उपन्यास।

❐❐❐

फिल्म समीक्षा के बहाने

स्त्री यौनिकता के वर्जित प्रश्न को उठाने की कोशिश 'लिपिस्टिक अन्डर माई बुरका'

वीरेन्द्र जैन

प्रकाश झा इस बात के लिए जाने जाते हैं कि वे सतही संवेदनाओं वाले किशोर मानस के किस्सों वाले आम व्यावसायिक सिनेमा से अलग सामाजिक विषय उठाते हैं और उन पर बाक्स आफिस हिट फ़िल्में बनाते हैं। लिपिस्टिक अन्डर माई बुरका भी उन्हीं के प्रोड्क्शन की फ़िल्म है जिसे उनकी सहायक रही अलंकृता श्रीवास्तव ने निर्देशित किया है। उनके प्रिय नगर भोपाल में फ़िल्माई गई इस फ़िल्म में रत्ना पाठक और कोंकणा सेन को छोड़ कर अधिकांश सहायक कलाकार भोपाल के हैं।

यह संक्रमण काल है जिसमें बदलते आर्थिक ढाँचों के कारण युवाओं की सोच और सपने तो बदल रहे हैं किंतु यह बदलाव अधूरा है; क्योंकि समाज का आधा धड़ सामंती मिट्टी में गड़ा हुआ है और आधा पूँजीवादी मूल्यों की हवा में लहरा रहा है। सामंती समाज के युवाओं में बदलाव का साहस न होने के कारण उनके सपने कुंठाओं में ढल रहे हैं। यही कारण है कि उनमें से बहुत सारे युवा सामाजिक दबाव में अपना जीवन चोरों की तरह जी रहे हैं और अपराध बोध से पीले पड़ते जा रहे हैं। एक बड़े नगर में भी पुरानी परम्परा का दबाव इतना है कि अपना जीवन साथी स्वयं चुनने की कोशिश करने वाली लड़की को भी चरित्रहीन समझा जाता है। निर्भया कांड जैसे चर्चित यौन अपराधों के पीछे भी यही दृष्टि रही होगी और देर रात को अपने मित्र के साथ फ़िल्म देख कर लौट रही लड़की को नशे में धुत बस चालकों ने चालू लड़की समझ लिया होगा। दो भिन्न लिंग के युवाओं की मित्रता हमारा सामंती समाज समझ नहीं पाता है। दूसरी ओर बाज़ारवाद का फैलाव है, जो, अपने उत्पाद बेचने के लिए विज्ञापनों के द्वारा युवा भावनाओं को भड़काता रहता है व विज्ञापन फ़िल्मों के द्वारा किशोरों को उकसाता रहता है। खास आय वर्ग के लिए उत्पादित सौन्दर्य प्रसाधन इस तरह विज्ञापित किए जाते हैं कि मध्यमवर्गीय युवा वर्ग इन्हें ज़रूरी आवश्यकताएँ समझने लगता है।

इस फ़िल्म में, इसी प्रभाव में आकर कम आय के टेलरिंग करने वाले परिवार की एक किशोरी बड़े माल और सुपर बाज़ार से मँहगी लिपिस्टिक से लेकर सौन्दर्य प्रसाधन की अन्य चीज़ें चुराने लगती है। युवाओं की पार्टियों में जाने के लिए वह चोरी से बुरका पहिन कर घर से निकलती है और बाहर जाकर अपने परिधान बदल आधुनिक बनने की कोशिश करती है, वह दुस्साहस करके परिवार में वर्जित लिपिस्टिक लगाती है, जींस पहिन लेती है व वर्जनाओं का विरोध करने वाले प्रदर्शनों में भाग लेती है। संक्रमण काल के इसी समाज में नवधनाड्यों व वैध-अवैध धन संग्रह करने वाले परिवारों के युवाओं की ऐसी दुनिया भी है जो पुरानी वर्जनाओं से मुक्त हो चुके हैं और मनमाना जीवन जी रहे हैं। राजनीतिक व्यवस्था से अनभिज्ञ समाज का अर्थशास्त्र न समझने वाले हज़ारों युवाओं के वे ही आदर्श बन रहे हैं। यही नासमझी निम्न मध्यमवर्ग के युवाओं को कुण्ठाग्रस्त बना रही है या अपराधी। चेन स्नेचिंग से लेकर बाइकें चुराने वाले छात्र और युवा जब पकड़े जाते हैं तो उनके अपराधों के पीछे यही कुण्ठाएँ सामने आती हैं।

मनोवैज्ञानिक रिपोर्टों में कहा गया है कि महिलाओं में पुरुषों की तुलना में कई गुना यौनिकता होती है और यही कारण है कि उन्हें विभिन्न समाजों ने उन्हें कम स्वतंत्रता दी है व अधिक से अधिक बन्दिशें रखी हैं। गर्भधारण वाली देह होने के कारण महिलाओं की यौनिकता उन्हें मजबूर बना सकती है व परजीवी बनने को विवश करती है। शिशु पालन की ज़िम्मेवारी भी महिला पर आ पड़ती है इसलिए उसकी नैतिकिता ऐसी तय की गई है कि उसे अपनी यौनिकता पर नियंत्रण रखना पड़ता रहा है। इसका उल्लंघन करने वालों को कठोर सामाजिक व शारीरिक दण्ड दिए जाते रहे हैं। अधिकांश मारपीट से लेकर ज़िंदा जला देने की घटनाओं के पीछे महिलाओं की कथित स्वतंत्रता की कोशिश ही रहती आई है, जिसे अनुशासनहीनता माना जाता है। परिवार नियोजन के साधनों के विकास ने महिलाओं को अनचाहे गर्भ धारण की कमज़ोरी से सुरक्षा दी है, जिससे मुक्त होते ही वे भी अपनी देह पर अपना हक चाहती हुई, स्वाभाविक यौनिकता को जीने के सपने देखने लगती है। फ़िल्म में ऐसी ही गरीब परिवार की दूसरी लड़की अपने प्रोफ़ेशनल फोटोग्राफर मित्र के साथ निरंतर शारीरिक सम्बन्ध बनाते हुए भी अंततः आजीवन सुरक्षा देने वाले पुरुष की तलाश में रहती है जिसे पति कहा जाता है, व जिसके लिए शादी करना होती है।

तीसरी युवती एक मुस्लिम परिवार की विवाहित महिला है

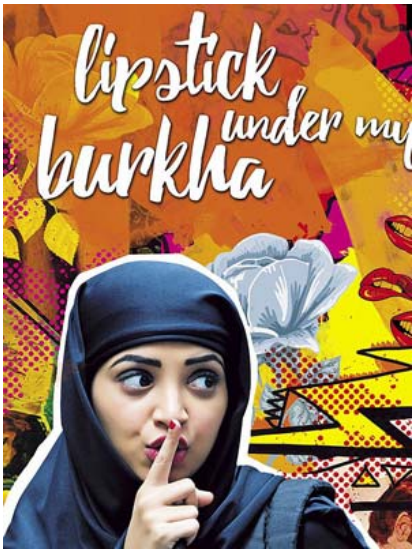

जिसका पति रोज़ी रोटी के लिए दुबई में काम करता है और चार छह महीने में जब भी आता है तो उसे गर्भवती कर जाता है जिसके कारण वह तीन बच्चों की माँ है व तीन बार गर्भपात करवा करके शारीरिक रूप से कमज़ोर भी हो चुकी है। बाज़ारवाद द्वारा सिखाए लाइफ स्टाइल को जीने के लिए वह पार्ट टाइम काम करती है और अपनी उपलब्धियों से पति को प्रभावित करने की कोशिश करती है किंतु उसका पति बिना सावधानी के केवल मशीनी सेक्स करने तक उसमें रुचि रखता है। अपनी संतुष्टि के लिए वह दूसरी महिलाओं से मित्रता रखता है। फ़िल्म के इस हिस्से में क्रोध में बदला लेने के लिए सेक्स करने का चित्रण यह स्पष्ट करता है कि साम्प्रदायिक दंगों के दौरान दूसरे धर्म की महिलाओं के साथ बलात्कार क्यों होते हैं। सुप्रसिद्ध लेखक राजेन्द्र यादव ने एक बार अपने सम्पादकीय में सवाल किया था कि सारी धर्म ध्वजाएँ अंतत: महिलाओं की योनि में ही क्यों गाड़ी जाती हैं।

चौथी महिला एक प्रौढ़ महिला है जिसका पति भोपाल गैस कांड का शिकार हो गया था, एक पुरानी हवेली छोड़ गया था। वह इसी हवेली में कई किरायेदार रख कर ज़रूरत भर गुज़र कर रही है, ऊपर वर्णित किरदार भी उसी के किरायेदार हैं। उससे सहानिभूति रखने वाले और ज़रूरत पर मदद करने वाले लोग उससे परम्परागत नैतिक आचरण की उम्मीद करते हैं, जिसका वह घुट-घुट कर निर्वहन भी करती है किंतु अपनी दैहिक भावनाओं को सहलाने के लिए अश्लील कहानियों की किताबें पढ़ कर मानस सुख लेती रहती है। इन्हीं कहानियों के प्रभाव में वह एक आकर्षक युवा से टेलीफोनिक संवाद का सुख लेने लगती है। उसकी उम्र और सौन्दर्य से अनभिज्ञ वह युवक पहले ग़लतफहमी में पड़ जाता है, किंतु जब भ्रम टूटता है तो वह उसका अपमान भी करता है। यही अपमान उसे अपने निकट के लोगों से भी मिलता है, जो गाहे बगाहे उसके मददगार भी होते हैं।

फ़िल्म कथात्मक नहीं है किंतु समाज के दोहरे चरित्र के एक हिस्से के अन्दर की सच्चाई को खोलने का काम करती है। व्यंग्य के शिखर पुरुष हरिशंकर परसाई का पूरा रचना संसार इसी हिप्पोक्रेसी को उजागर करने का काम करता है जिसमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों को छुआ गया है। यौनिकता के मामले में भी हमारा समाज बहुत पाखंडी है जिससे बहुत से विसंगतियाँ जन्म लेती हैं। बदलते समाज के अनुसार हमें नैतिकताएँ बदलनी चाहिए किंतु उनमें अपना हित बना चुके समाज के लोग उन्हें जड़ बना कर रखे हुए हैं। फ़िल्म में जीवन के वे क्षण जिन्हें आम तौर पर गोपनीय माना जाता है उन्हें परदे पर सेंसर बोर्ड की अनुमति तक दिखाया गया है; जो हमारी परम्परागत सोच को झटका देता है। कुछ लोग इसे अनावश्यक भी मान सकते हैं, और यह भी कह सकते हैं कि इन दृश्यों के बिना भी बात कही जा सकती थी, किंतु यह बात भी हमारी जड़ता की ही याद दिलाती है। टिकिट खिड़की पर समुचित भीड़ जुटाने में भी ऐसे टोटके काम आते हैं, क्योंकि न्यूनतम कमाई करना तो हर फ़िल्मकार का लक्ष्य होता ही है। चूँकि फ़िल्म में भावप्रवणता की कोई गुंजाइश नहीं थी इसलिए अनजाने से कलाकारों ने भी अपनी भूमिका का सही निर्वहन किया है जिसमें खामी खूबी ढूँढ़ने की जगह नहीं है। भोपाल फ़िल्म निर्माण की नई जगह बनती जा रही है; जिसमें बहुत सारे स्थल शूटिंग के उपयुक्त हैं। प्रकाश झा उनका कुशलता से उपयोग कर रहे हैं। अछूते विषय लेकर दर्शकों की रुचि को उनकी बुद्धि व भावनाओं के साथ जोड़ कर फ़िल्में बनना शुभ है, इसे प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए।

***

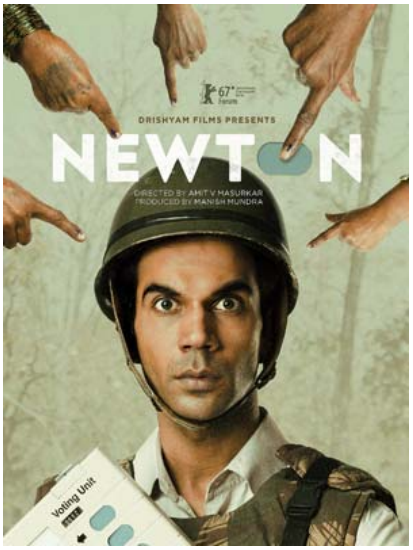

वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले समाज की स्थापना में चुनौतियाँ 'न्यूटन'

फ़िल्म मीडिया ऐसा बहु आयामी कला माध्यम है जो कथा/ घटना, दृश्य, अभिनय, गीत, संगीत, तकनीक आदि के माध्यम से जो प्रभाव पैदा करती है वह ज़रूरी नहीं कि किसी संवाद के शब्दों में सुनाई देता हो। न्यूटन भी ऐसी ही एक नायक प्रधान फ़िल्म है जिसमें सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, आदि बहुत सारे विषयों को एक घटना कथा के माध्यम से समेटा गया है, जो देखने में साधारण लगती है।

राजकुमार राव इस फ़िल्म के नायक हैं जो न्यूटन नाम के युवा पात्र के रूप में सामने आए हैं। देश में आज़ादी के बाद जो विकास हुआ उसमें बहुत सारे परिवार निम्न आर्थिक वर्ग से उठकर मध्यम वर्ग में सम्मलित हुए हैं। इन परिवारों में पीढ़ियों के अंतराल के कारण या तो घुटन पैदा हुई है या टकराव पैदा हुआ है। कथा नायक का नाम उसके परिवार द्वारा नूतन (कुमार) रखा गया था पर उसी दौर में नूतन के नाम से कुछ महिलाएँ इतनी लोकप्रिय हुईं कि पुरुषों को यह नाम रखने में शर्म आने लगी। यही कारण रहा कि कथानायक ने स्वयं ही नू को न्यू और तन को टन करके अपना नाम न्यूटन कर लिया। इस तरह उसने नामकरण के पिता के परम्परागत अधिकार के विरुद्ध पहला विद्रोह किया। बाद में माँ बाप की इच्छा के

विरुद्ध, एक कम शिक्षित, अल्पवयस्क, लड़की से शादी करने से इंकार करके दूसरा विद्रोह किया। नियमों और आदर्शों के लिए किए गए छोटे-छोटे विद्रोह ही जब परम्परा की गुलामी को तोड़े जाते हैं तभी देश और समाज की जड़ता को तोड़ने वाले विद्रोहों की हिम्मत आती है। चुनाव का प्रशिक्षण देने वाला प्रशिक्षक जब उसके बार-बार सवाल पूछने से खीझ कर उसका नाम पूछता है और न्यूटन बताने पर वह उसे समझाता है कि न्यूटन ने केवल गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत ही नहीं खोजा अपितु यह भी खोजा कि प्रकृति के जो नियम होते हैं वे सभी के लिए समान होते हैं चाहे वह किसी भी आर्थिक वर्ग का व्यक्ति हो। वैज्ञानिकता समानता का सन्देश भी देती है।

फ़िल्म की कथा में कथा-नायक जो कलेक्टर कार्यालय में बाबू है, को चुनावी ड्यूटी में रिज़र्व में रखा जाता है किंतु जब प्रिसाइडिंग ऑफ़िसर के रूप में नक्सल प्रभावित दण्डकारण्य में जाने से नियमों का ज्ञान रखने वाला एक बाबू तरह-तरह के बहाने बना कर मना कर देता है तो कथानायक को वहाँ भेजा जाता है। उसके साथ में जो दूसरे सहयोगी जाते हैं वे ढुलमुल चरित्र के लोग हैं जो बयार के साथ बह कर निजी हित और निजी सुरक्षा की चिंता करने वाले लोग हैं, भले ही देश और नियमों के साथ कोई भी समझौता किया जा रहा हो। कथा-नायक इनसे भिन्न है।

यह फ़िल्म बताती है कि हमारे लोकतंत्र की सच्चाई क्या है और हम सारे दुनिया के सामने सबसे बड़े लोकतंत्र का जो ढिंढोरा पीटते हैं उसके मतदाता की चेतना और समझ कितनी है। बड़े-बड़े कार्पोरेट घरानों द्वारा खनिजों और वन उत्पाद के मुक्त दोहन के लिए नक्सलवाद का जो हौआ खड़ा कर दिया गया है, उससे सुरक्षा के नाम पर पूरे क्षेत्र में अर्धसैनिक बल तैनात हैं; जो आदिवासियों का शोषण तो करते ही हैं उन्हें दबा कर भी रखते हैं। नक्सलियों के आतंक के नाम पर चुनाव का ढोंग किया जाता है व भयभीत चुनाव अधिकारियों को वहाँ जाने से रोक कर सुरक्षित नकली पोलिंग करा ली जाती है। कथा नायक से भी यही अपेक्षा की जाती है किंतु स्वभाव से विद्रोही और निर्भय कथा नायक हर हाल में नियमानुसार काम करने के लिए दृढ संकल्प है इसलिए उसकी सुरक्षा अधिकारियों से टकराहट होती है। इसमें उसके सारे सहयोगी निजी सुरक्षा और हित को दृष्टिगत रखते हुए व्यवस्था का साथ देते हैं जिस कारण वह अकेला पड़ जाता है। उससे केवल एक स्थानीय आदिवासी लड़की टीचर सहमत नज़र आती है;जो बूथ लेवल ऑफ़िसर के रूप में ड्यूटी पर है। विदेशी पत्रकार को दिखाने के लिए आदिवासियों को ज़बरदस्ती पकड़ कर बुलवाया जाता है, जिन्हें न तो वोट डालना आता है न ही वे चुनाव का मतलब ही समझते हैं व पूछते रहते हैं कि इससे फायदा क्या है। उस क्षेत्र में स्कूल और घर जला दिए गए हैं, युवा दिखाई नहीं देते केवल वृद्ध व महिलाएँ दिखती हैं। बी एल ओ लड़की बताती है कि गाँव वालों को पुलिस की बात मानने पर नक्सली परेशान करते हैं और नक्सली की बात मानने पर पुलिस परेशान करती है। नियम से काम करने वाला सनकी नज़र आता है, जिससे धारा के साथ बहने वाले सभी असंतुष्ट रहते हैं, उसके हाथ केवल समय की पाबन्दी का प्रशंसा पत्र रहता है जबकि व्यवस्था का साथ देने वालों का परिवार माल में मंहगी शापिंग करता नज़र आता है।

राज कुमार राव, अमरीशपुरी, ओमपुरी, नसीरुद्दीन शाह, शबाना आज़मी, नवाजुद्दीन सिद्दीकी, जैसे आम आदमी के चेहरे वाले बेहतरीन कलाकार हैं और इस फ़िल्म में भी उन्होंने अपनी प्रतिभा को कायम रखा है। उनके साथ पंकज त्रिपाठी, और अंजलि पाटिल भी भूमिकाओं के अनुरूप अपने अभिनय से प्रभावित करते हैं। लेखक निर्देशक अमित वी मसूरकर ने फ़िल्म को जिस लगन से बनाया है उसी का परिणाम है कि फ़िल्म को 67वें बर्लिन फ़िल्म फेस्टिवल और ट्रिबेका फ़िल्म फेस्टिवल के लिए चुना गया है। इसे 90वें अकेडमी अवार्ड के लिए श्रेष्ठ विदेशी भाषा के वर्ग में चुना गया है। फ़िल्म को आस्कर अवार्ड के लिए 2018 के लिए भी नामित किया गया है।

❐❐❐

2/1 शालीमार स्टर्लिंग, रायसेन रोड
अप्सरा टाकीज के पास भोपाल (म.प्र.)
462023 मोबाइल 09425674629

नई पुस्तक

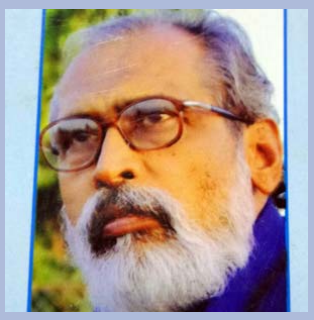

पुस्तक: अपने हिस्से का आकाश
(कहानी संग्रह)
लेखक : प्रकाश कांत
प्रकाशक: आरटेक
मूल्य : 160 रुपये, पृष्ठ : 96

प्रकाश कांत की कहानियाँ मोहभंग की कहानियाँ हैं। इन कहानियों में बहुत गहरे प्रश्न छिपे होते हैं। उनका तीसरा कहानी संग्रह अपने हिस्से का आकाश अभी प्रकाशित होकर आया है। इस संग्रह में उनकी बारह कहानियाँ संकलित की गई हैं- बचा हुआ हरापन, प्रेत बाधा, पुराने पुल, मरी हुई तितलियाँ, अपने में होते हुए, बेदख़ल, कुछ इस तरह, अपने हिस्से का आकाश, तिलिस्मों के बावजूद, मरी हुई रोशनी, निर्वासन और सिलसिला। जैसा कि कहानियों के शीर्षकों से ज्ञात होता है कि यह सारी कहानियाँ उदासी के रंग से रची गई कहानियाँ हैं। इन कहानियों में हमारे समय के वे सारे ज़रूरी प्रश्न हैं जो हर किसी को परेशान किए हुए हैं। कहानियाँ समाप्त होने के बाद भी गूँजती रहती हैं।

❐❐❐

सहज, सरल और संप्रेषणीय

महेश दर्पण

पुस्तक: चुनी हुई कहानियाँ : सूर्यबाला (कहानी संग्रह); लेखक: सूर्यबाला
प्रकाशक: अमन प्रकाशन

सूर्यबाला हिन्दी की उन बहुत कम कथाकारों में एक हैं जिनकी कहानियाँ चर्चित भी रही हैं, लोकप्रिय भी और महत्त्वपूर्ण भी। हाल में पढ़ा उनका कहानी संग्रह 'सूर्यबाला : चुनी हुई कहानियाँ' पढ़कर यह अहसास और गहरा हुआ है। यहाँ संकलित पन्द्रह कहानियाँ सहज, सरल, सम्प्रेषणीय अंदाज़ में जिस तरह अपनी बात कह जाती हैं, उसे देखकर हैरानी होती है। अपनी विशिष्ट और चुटीली भाषा में कहानी बुनते हुए जैसे वह सचमुच कोई 'स्लाइस ऑफ लाइफ' उठाकर सामने रख देती हैं। ऐसे में कला यहाँ महज कथ्य को उभारने का काम करती है, खुद को प्रदर्शित करने का नहीं।

संग्रह पढ़ लेने के बाद ज़ेहन में अटकी रह गई कुछ कहानियों के ज़रिए मैं अपनी यह बात पुख़्ता करना चाहूँगा। शुरूआत 'एक स्त्री के कारनामे', 'रस', 'मेरी शिनाख़्त' और 'आदमकद' से की जाए। कथाकार यह अच्छी तरह से जानती और मानती है कि पति-पत्नी के सहज जीवन का प्रवाह औपचारिक असहजता में बना नहीं रह पाता। वह सहज, अनौपचारिक और अकृत्रिम जीवन में ही संभव है। अन्यथा, 'एक स्त्री के कारनामे' का पति देवता भले ही कहा जाता हो, पत्नी के लिए तो वह अष्टधातु की एक मूरत भर बनकर रह जाता है। यहाँ संवादहीनता और संभ्रांत औपचारिकता इस कदर दमघोंटू हो जाती है कि पत्नी खीज ही उठे। उसे दरअसल दरकार है हाड़-माँस के एक साबूत इंसान की। जो अपने में डूबा महज़ उसे बर्दाश्त न करता रहे, उसे समझने की कोशिश भी करे। ऐसा न हो पाने पर ही फिर इस कथानायिका सरीखी वहशी उत्तेजना पनपने लगती है। कोई भी हो, ऐसे में अपना दिल-दिमाग काबू न रख सकेगा।

सूर्यबाला जी की खिलंदड़ी ज़बान यही कहानी को विपरीत परिस्थितियों में भी दिलचस्प बना देती है। यहाँ व्यंजना का वह मज़ा कदम-कदम पर मिलता है, जो प्राय: लुप्त होता जा रहा था। यह कहानी धीरे-धीरे भीतर का परिवेश खोलते हुए अपनी खूबसूरती अंत में जाहिर करती है। यहाँ पति-पत्नी शांत भाव से चाय पी रहे है। यहाँ अनकहा जो है, वह यही कि दांपत्य में कोई एक भी आत्मस्वीकार की स्थिति में आ जाए तो सारा तनाव क्षण भर में उड़न छू हो जाता है। पति-पत्नी के संबंधों पर जाने कब से और कितना लिखा जा चुका है, किंतु सूर्यबाला का कथाकार उसमें अपना नितांत नवीन योगदान करता है। यह नवीनता आई है उस एंटीना से, जो चुपके से चीज़ों को पकड़कर तरतीब देता चला जाता है।

'रेस' पढ़कर आप बड़ी आसानी से यह संदेश पा सकते हैं कि वर्तमान को हमेशा कल को पाने का साधन मानने वाले लोग कैसी अंधी रेस में शामिल हो जाते हैं। इसका प्रतीक चरित्र है सुधीर शुक्ला। उसके लिए घरबार से कहीं ज़्यादा महत्त्व अपनी कपनी में अपनी हैसियत बनाने का है।

यहाँ चेयरमैन के मित्र को खुश करने के लिए, घर की खुशी को छोड़ा जा सकता है। ऐसा चरित्र, दरअसल महज़ यह जानता है कि सबको दौंदते हुए अपने आगे बढ़ने का रास्ता कैसे बनाया जाए। ऐसे में, उसके रास्ते में भलमनसाहत से भी रुकावट डालने की कोशिश करने वाला, संदेह के घेरे में आ जाता है। उसे लगता है, ये लोग उसकी तरक्की नहीं चाहते।

कहानीकार की विशेषता यह है कि वह बगैर किसी शोर-शराबे वाली भाषा या अंदाज़ के, एक ऐसे इंसान को हमारे सामने बेपर्द करती जाती हैं जो दूसरों को पछाड़ने की चाहत में इस कदर अंधा हो जाता है कि उसकी आत्मतुष्टि अहं-तुष्टि का साधन बन जाती। न उसे बच्चे के बचपन की फिक्र रह जाती है, न पत्नी से लगाव की। उसे बच्चे के भी कैरियर की उसी तरह चिंता है जैसे अपने कैरियर की। स्थिति तो यहाँ तक आ पहुँचती है कि वह अपनी शारीरिक अस्वस्थता को भी छिपा ले जाना चाहता है। उसे फिक्र है तो अस यह कि बॉस की नज़र में तेज़-तर्रार बना रहे। वह यह भूल ही जाता है कि इंसान मशीन नहीं हो सकता। इस दुखांत कथा की खूबसूरती इसके नैरेशन में है, जहाँ एक-एक चीज़ करीने से सहेज कर प्रस्तुत की गई है। सधे और सीधे अंदाज़ में आज के जीवन का एक बड़ा सच हमारे सामने उभरकर आ जाता है।

'मेरी शिनाख़्त' की विमला और कुमार की भी यही कहानी है।

यहाँ भी असल ज़िंदगी खो-सी जाती है। जो कुछ है, बस बाहर वालों को दिखाने भर के लिए। ऐसे में दुखद सच्चाई यह सामने आती है कि एक स्त्री की मूल पहचान ही खत्म हुई जाती है। वह क्रमशः अपने आप से ही बेगानी हुई जाती है। यह स्थिति इसलिए आई है कि उसके पति कुमार हरदम ज़िंदगी में कामयाब होने के नुस्खों ही में खोए रहते हैं। यहाँ स्त्री, जो गृहस्वामिनी है कहने को, लेकिन एक शो पीस में ही तब्दील होकर रह जाती है। उसके लिए पति के पास कोई समय शेष नहीं रह जाता। वह अपने भविष्य और कैरियर का सवाल ही हल करता रहता है। यहाँ शेष रह गया यथार्थ है- दवाएँ और अपने-अपने में सिमटे दो व्यक्ति। ज़िंदगी है, किन्तु हरदम एक भार की तरह।

'आदमकद' की बेसवाली, मामी एक यादगार चरित्र है। ठीक विपरीत है उसका पति अर्थात कामता मामा। काहिली ही उसके लिए जीवन है उसे सहती मामी यह कतई नहीं चाहतीं कि उनकी आँखों के सामने उनके पति को छोटा किया जाए। वह बस, उसके बच्चे की माँ बनना चाहती थीं, बन गईं। क्या कुछ नहीं करती यह स्त्री। घर संभालती है गाँव जाकर, खेती बारी करती है। पर पति वैसा का वैसा रहता है- निकम्मा और नशेड़ी। उसे शौक है, तो बस किस्से पढ़ने का।

आमतौर पर यह मान लिया जाता है कि गाँव जाकर सब ठीक हो जाएगा, लेकिन यह कहानी बताती है कि बदलते वक्त में यथार्थ भी बदल गया है। बदलाव ऐसा आया कि गाँव में रहकर भी मामी को गाँव का सुख नहीं मिला। सब के सब काम की तलाश में गाँव से शहर जा पहुँचे हैं। यहाँ कोई ऐसा साथ शेष नहीं जो मुसीबत में साथ दे सके।

मामी को मजबूरन, मामा की लाश को ताँगे में लादकर शहर में अपनों के बीच पहुँचना पड़ता है। ज़िंदगी भर खुद को जोते रखने वाली यह स्त्री अधिक कुछ नहीं, बस यह चाहती है कि उसका बच्चा शहर में रह कर पढ़-लिख जाए। वह इस बात के लिए तत्पर है कि गाँव जाकर इतनी मेहनत करे कि बच्चे का खर्च उठा सके।

लेकिन कहानी सिर्फ यही नहीं है। यहाँ

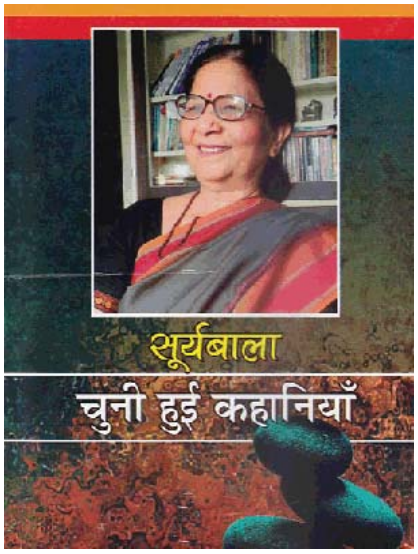

पुरुष का नाकाबिले बर्दाश्त चरित्र भी खूब बेपर्द हुआ है और स्त्री की सहनशीलता भी। स्त्री का दुःख संवादों में खुलता है। उसके लिए पति की मौत का भी कोई विशेष अर्थ नहीं, क्योंकि यदि जीवित भी होता तो वह उसके साये तले अपने बच्चे को इसलिए न पालना चाहती कि कहीं उसमें वही दुर्गुण न समा जाएँ। यह चिंताएँ एक ऐसी स्त्री की हैं जिसके लिए सबसे बड़ी बाधा है उसकी खुद की काया। उसका चित्रण कहानीकार ने शुरू में ही इस तरह किया है कि चरित्र खुद सामने आ खड़ा हो। वह जानती है कि उसकी काया बदसूरत है, लेकिन यह भी समझती है कि माँ-बेटे के बीच ऐसी बदसूरती कभी बाधा नहीं बनती। मर्द और औलाद का फर्क सामने रखती यह कहानी जिस ओर संकेत करती है वह है अपनत्व की चाहत। ऐसे चरित्र देर तक पाठक के भीतर बजते रहते हैं। यहाँ शरीर से कहीं ज़्यादा आकर्षक है मन की वह सुदरता जो बच्चे को एक बेहतर इंसान बनाने का सपना देख रही है। जिसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए।

सूर्यबाला जी पहले चरित्र को खड़ा करती हैं, फिर उसका वह कथा-पाठ प्रस्तुत करती हैं जो प्रायः अदेखा छोड़ दिया जाता है। ऐसा ही एक चरित्र है 'गौरा गुनवंती'। विपरीत परिस्थितियों में गौरा कैसे गुनवंती बनती है, यही नहीं है यहाँ। ताई का संबल और उनसे मिली आत्मीयता व समझदारी के प्रसंग भी उल्लेखनीय हैं। माँ के न रहने पर गौरा कैसी बोझ-सी हो जाती है स्वयं पर। लेकिन फिर वही कैसे जीने की सलाहियत सहजता से सीख जाती है। इस प्रक्रिया को कहानी खामोश ढंग से बुनती है। कहीं कोई अतिरिक्त कथन नहीं, लेकिन साफ हो जाता है कि गुणवान बनने के लिए सुविधाएँ ही काफी नहीं होतीं। कहानी में नाटकीय मोड़ तब आता है जब जबर्दस्त आर्थिक तनावों के चलते मकान बेचकर भी उसकी शादी के लिए नौ हज़ार ही एकत्र हो पाते हैं। कहानी बताती है कि इतने में तो कोई चपरासी भी न जुटेगा। दीगर बात है कि संयोग ऐसा बन जाता है कि गौरा का विवाह राय साहब के बेटे के संग तय हो जाता है।

ज़िंदगी की तरह सहज चाल से चलती यह कहानी ताई औ गौरी के परस्पर वात्सल्य और स्नेह भरे रिश्ते के कारण भी याद रह जाती है, जहाँ शब्द बेमानी हो जाते हैं। जो कुछ है, वह अनुभूति और दृश्य है।

आज़ादी के इतने साल बाद भी हमारे समाज की स्थिति बहुत बदली नहीं है। इसके पीछे सबसे बड़ा हाथ अशिक्षा का है। कहानी 'रहमदिल' का रहमत अली अपनी नासमझी और अशिक्षा के कारण ही यह समझाने लगता है कि जो लोग उसका शोषण कर रहे हैं, वे ही रहमदिल हैं। यहाँ निम्न वर्गीय मुस्लिम समाज की त्रासदी खुलकर सामने हो आती है। टिकट सहित यात्रा करने पर भी अपराधी की तरह ट्रीट किए जाने को पूरे तापमान के साथ प्रस्तुत करती यह कहानी हमारे भीतर आक्रोश पैदा करती है।

बेहद आमफ़हम ज़बान और सीधे-सच्चे दृश्यों में यह कहानी एक प्रभावशाली फ़िल्म की तरह ज़ेहन में उतरती चली जाती है। पात्र, स्थितियाँ और विवशताएँ, सब दृश्य हैं। यह आम ज़िंदगी में नज़र आने वाले दृश्य हैं। यह कहानी नज़र उन पर भी खूब डालती है जो सब कुछ देखते-चालते भी किसी झमेले में पड़ना नहीं चाहते। गोले और अपढ़ इंसान के लिए ग़लत यहाँ वह है जो सही सलाह देकर गया है वह नहीं जो रहमदिली का नाटक कर बाकायदा पैसे ऐंठ रहा है। भ्रष्टाचार का यह वह रूप है जिस पर कोई ऐसी नज़र नहीं जाती जो इसके विरुद्ध आवाज़ उठा सके। कहानी ने यही आवाज़ उठाने का काम किया है।

सूर्यबाला की कहानियों के अनेक पात्र ऐसे हैं, जो परिस्थितियों की उपज हैं।

अभावों में भी खड़े होकर वे अपनी एक पहचान बनाते हैं। पर योग्य होते हुए भी समाज में उन्हें समुचित स्थान नहीं मिल पाता। 'न किन्नी, न' की किन्नी का अपना घर और मौसी का परिवार कथा में तुलनात्मक अध्ययन का आधार बनते हैं। यहाँ एक ओर हैं टंठा अँधेरी कोठरियाँ और दूसरी ओर है वैभव व ऐश्वर्य का भरा-पूरा संसार। ऐसे में उतरन भरा यथार्थ ही किन्नी के जीवन का सच बन जाता है। इस सच्चाई को कहानी बड़ी बारीक कुशलता से परत-दर-परत खड़ा करती है। ज़रूरतें पूरी करते-करते उतरन ही उसके जीने का ढंग बन जाता है। ऐसा नहीं है कि किन्नी अपनी मर्जी की ज़िंदगी जीना नहीं चाहती, लेकिन जो समाज हम बना रहे हैं वहाँ योग्यता अपने दम पर स्थान पा ही जाए, यह ज़रूरी नहीं। समर्थ लोगों का दबदबा हर जगह मिलता है। कहानी में नाटकीय परिवर्तन तब होता है जब शादी के बाद रोज़ी का निधन हो जाता है।

कहानी यहाँ खोलती है बड़े आदमियों के दुख की गरिमा। उसे बचाने का साधन माना जाता है किन्नी को। खुद किन्नी अपनी दुनिया में जिस यथार्थ से दो-चार हो रही है, उससे ऊबकर वह अपना निर्णय बदल देती है। किन्नी के बहाने दरअसल, स्त्री की स्थिति के अनेक कोण यहाँ खुलते हैं। वही नहीं, उसकी भाभी भी ज़िंदगी में घुटन महसूस कर रही है। ऐसे में भी जब किन्नी के प्रति उसकी आशंका का सूत्र खुलता है तो आर्थिक दबावों का सही रूप सामने आता है।

कहानी की खूबसूरती यह है कि उसका शीर्षक उसके विरोध में खड़ा दिखता है। यह उस चरित्र के साथ आत्मीयता भरी सहानुभूति है। मनुष्य के भीतर के भय के अनेक रूप हैं। ये सब अनेक रूपों में सूर्यबाला जी उजागर भी करती रहती हैं। लेकिन हमारे इलीट समाज में इस भय ने जो नपुंसकता प्रसारित की है, उसे उजागर करने वाली कहानी है 'शहर की सबसे दर्दनाक खबर'।

यह कहानी बताती है कि डरे हुए, तथाकथित बड़े लोगों के बीच रहने वाली कमाल साहब को दंगे जैसे हालात के बीच कैसा अनुभव होता है। 'चंद्रा टावर' आकर वह इस उम्मीद के साथ रहने लगे थे कि यहाँ समझदार लोग रहते हैं। यह वह बाद में समझ पाते हैं कि यह तो खुद ही आम लोगों से कट जाने वालों की बस्ती है। इसे सिवाय अपने और किसी की फिक्र नहीं। यहाँ कभी कोई समस्या नहीं होती, होती भी है तो पैसे के दम पर सुलटा ली जाती है। लेकिन दंगे जैसे हालात से ये लोग कैसे निबटें! दंगे की उत्तेजना से घबराए हुए चंद्रा टावर के लोग जो तरकीबें कमाल साहब की सुरक्षा के लिए अपनाने लगते हैं, वह उन्हें बर्दाश्त नहीं हो पातीं। खुले दिमाग और सोच वाले कमाल साहब को ऐसे में चंद्रा टॉवर का माहौल दमघोंट लगने लगता है। वह बगैर किसी को बताए, परिवार के साथ चंद्रा टॉवर छोड़ देते हैं।

अपने वक्त की यह एक बड़ी कहानी इसलिए है कि यह अपने तरीके से उस समाज के गाल पर एक तमाचा जड़ती है जो खुद को बहुत सलीकेदार समझाता है। जो कमाल साहब को प्रोटेक्ट करने के नाम पर खुद की सुरक्षा करना चाहता है जो न सिर्फ कमाल साहब की आवाज़ को दबा देना चाहता है, उन्हें अपनी ग़लत बात मानने पर मजबूर भी करता है। ऐसे ख़ैरख्वाह अगर कमाल साहब के गले नहीं उतरते तो यह सही भी है। आख़िर यह कैसे संभव है कि इंसान अपने होशोहवास में अपनी पहचान मिटा देने पर राज़ी हो जाए।

कहानी के अंत में आए प्रश्न विचलित करने वाले हैं-

''आख़िर कहाँ गए होंगे कमाल साहब?
कौन सी जगह तलाशने?
इस पूरी ज़मीन पर....?''

इलीट क्लास की कलई बड़े तरीके से खोलती है यह कहानी।

यह संग्रह पढ़ते हुए अनायास ही सूर्यबाला जी के वैविध्य भरे कहानी संसार से परिचित हुआ जा सकता है। यहाँ हर कहानी अपनी कहन खुद साथ लेकर आती है स्वत: स्फूर्त भाव से। इन्हें पढ़ना अपने समय को समझना भी है।

❐❐❐

सी-3/51, सादतपुर
नई दिल्ली 110094
मोबाइल 9013266057
darpan.mahesh@gmail.com

नई पुस्तक

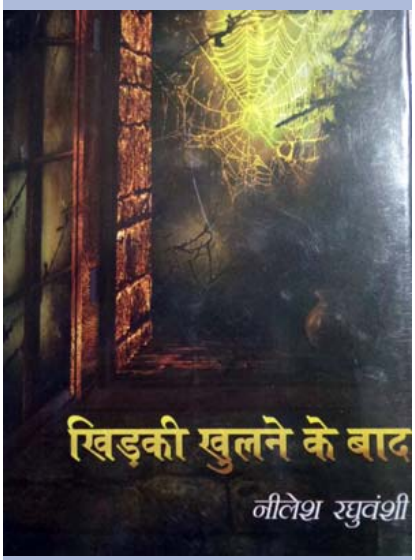

पुस्तक: खिड़की खुलने के बाद
(कविता संग्रह)
लेखक: नीलेश रघुवंशी
प्रकाशक: किताबघर
मूल्य : 250 रुपये, पृष्ठ : 120

नीलेश रघुवंशी इस समय के महत्त्वपूर्ण कवियों में से हैं। उनके कविता संग्रहों का पाठकों को इंतज़ार रहता है। लम्बे इंतज़ार के बाद उनका अगला कविता संग्रह खिड़की खुलने के बाद आया है। इस कविता संग्रह में उनकी 54 कविताएँ संकलित की गई हैं। नीलेश लोक की कवि हैं, वे अपने संसार को लोक से उठाती हैं और उसे लोक की ही भाषा में रचती हैं। इसीलिए उनकी कविताएँ बहुत सीधी और सरल भाषा में बात करती हैं। जैसे उनकी संग्रह की एक कविता मेरा देश की यह पंक्तियाँ मेरे लिए देश के मायने, तीन कमरों का घर है मेरा, या झुंड कविता की यह पंक्तियाँ पक्षियों को झुंड में जाते देखती हूँ जब भी, पहुँच जाती हूँ बचपन के दिनों में। एक ज़रूरी कविता संग्रह है यह।

❐❐❐

रंगमंच

भ्रष्ट तंत्र में पिसते मनुष्य की व्यथा-गाथा

(प्रेम जनमेजय के दो व्यंग्य नाटक)

प्रज्ञा

पुस्तक: डॉ. प्रेम जनमेजय के दो व्यंग्य नाटक; (नाटक संग्रह) लेखक: डॉ. प्रेम जनमेजय
प्रकाशक: शिवना प्रकाशन

व्यंग्य सामाजिक विद्रूपताओं, राजनीतिक भ्रष्टाचार, धार्मिक अंधविश्वासों और पाखंडों के कुचक्र में पिसते मनुष्य की व्यथा-गाथा है। वह सत्ताओं की निरंकुशता और बेलगाम ताकत के विरुद्ध मानवीय संघर्ष के लोहे को जिजीविषा की सान पर तेज़ धार देने का काम करता आया है। भारतेंदु, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल जैसे रचनाकारों ने भारतीय समाज के विविध पक्षों को व्यंग्य के माध्यम से उजागर किया है। व्यंग्यकार प्रेम जन्मेजय इसी परम्परा के सशक्त हस्ताक्षर हैं। हिंदी का पाठक उन्हें व्यंग्यकार और व्यंग्य-यात्रा पत्रिका के संपादक के रूप में भली-भाँति जानता है। पर इस वर्ष शिवना प्रकाशन से आई उनकी नई किताब के जरिए पाठकों का परिचय उनके एक नए रूप में होता है। यह रूप है व्यंग्यनाटककार का और किताब का शीर्षक है-डॉ. प्रेम जनमेजय के दो व्यंग्य नाटक। इस किताब में 'सीता अपहरण केस' और 'सोते रहो' नाम से दो व्यंग्य नाटक संकलित हैं। नाटक की दृष्टि से देखा जाए तो शरद जोशी के व्यंग्य नाटकों को कई बार खेला गया है पर हिंदी में व्यंग्य नाटक गिने-चुने ही हैं। ये अलग बात है कि नाटकों के माध्यम से व्यंग्यात्मक ध्वनि देश-विदेश के नाटकों में आरंभ से ही मिलती रही है। नाटक की दुनिया में यह वर्ष इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इस वर्ष व्यंग्य नाटकों और दलित नाटकों पर आधारित किताबें पाठकों के समक्ष आईं है।

सीता अपहरण केस

किताब में संकलित पहले नाटक 'सीता अपहरण केस' की बात करें तो नाटक के रूप में आने से पूर्व यह व्यंग्य के रूप में प्रेम जी के संग्रह 'पुलिस पुलिस' में शामिल था। संग्रह 1986 में प्रकाशित हुआ था और उसी समय नुक्कड़ नाटक की सक्रिय संस्था निशांत नाट्य मंच से जुड़े शमसुल इस्लाम ने पहली बार अपनी संस्था के लिए इसे मंचित किया। इस रचना में नाटक की सभी संभावनाओं को परखकर रचनाकार ने इसका विधिवत् नाट्य संस्कार किया। आधे घंटे का यह नाटक परसाई की ही तरह भ्रष्टाचार की पड़ताल करता है। पहले दृश्य में मंगलाचरण की तर्ज पर भ्रष्टाचार गाथा आरंभ से ही व्यंग्य के बीज बोती चलती है। नाटक की शुरूआत एक कत्ल की घटना से होती है। कत्ल की यह घटना कई लोगों को उत्साहित कर देती है। वजह है एक मालदार व्यक्ति का कत्ल और कातिल का भी मालदार होना। यानी की मलाई बटोरने के कई मौके। इस आस में थानेदार, सेठ, स्थानीय नेता और पत्रकार सभी मुस्तैद हो जाते हैं। यहाँ तक की थानेदार की धार्मिक पत्नी भी वास्तविकता का भान होने पर केस से होने वाली संभावित कमाई को धर्म का प्रताप समझती है और पंडित जी को दान-दक्षिणा से लेकर बाद में सुंदरकांड का पाठ करवाने की पेशकश रखती है। भ्रष्टाचार में धर्म का रंग भी घुलकर निखर जाता है। इधर पहले ही अंक का सारा कार्यव्यापार थानेदार के घर में घटित होता है। पहले नेता और फिर सेठ, पत्रकार सभी अपना हित साधने आते हैं। वादी-प्रतिवादी के हितैषी बनकर केस में थानेदार से ढील छोड़ने की बात कहते हैं। इससे साफ जाहिर हो जाता है कि केस लंबा चलता रहेगा और मलाई दोनों ओर से खाई जाती रहेगी। न्याय का क्या है, वह अपने समय से मिल ही जाएगा। इस पहले अंक में एक महिला पात्र और चार पुरुष पात्रों की पूरी जेहनियत को रचनाकार ने उनके संवादों से उजागर कर दिया है। एक जिज्ञासा आरंभ से ही बनी रहती है और नाटक के पात्रों के बीच द्वंद्व की स्थिति भी सामने आती है। वास्तव में यह द्वंद्व ऊपरी हैं भीतर से सब पात्र एक से हैं। आदर्शों और सिद्धांतों की बखिया उधेड़ते सभी किरदार न्याय,सुव्यवस्था और सदाचार के प्रचलित प्रतीकों को ध्वस्त करते हित चिंता में लिप्त रहते हैं।

नाटक का दूसरा अंक तीन दृश्यों को समेटे है। यह अंक अब तक बनाई भूमिका के क्रियात्मक व्यवहार या एक्शन में बदलने का है। मंच पर दर्शकों को थाना दिखाई देता है। थाने का नाम 'कलियुगी थाना' रखकर नाटककार ने वर्तमान समय को चिहिन्त किया है। इस कलयुगी थाने में अचानक ही थानेदार द्वारा त्रेतायुगीन अपराध कांड पर चिंतन किया जाता है। थानेदार कहता है,''रामायण में जो पुलिस डिपार्टमेंट की बेइज़्ज़ती की गई है वैसी बेइज़्ज़ती तो

किसे ने नहीं की है। तू ख़ुद सोच घोंचूप्रसाद इतने मर्डर हुए शूर्पनखा जैसी सुंदर औरतों के नाक-कान काट लिए गए, सीता किडनैप हुई, लंका में अनाऑथोराइज़्ड ब्रिज बनाया गया, हनुमान ने लंका जला दी...इतना सब कुछ हो जाए और पुलिस का कोई रोल भी न हो। यानी पुलिस का बॉयकॉट।''1 नशे में थानेदार अचानक लुढ़क जाता है और कलयुगी थाने की जगह दर्शकों को 'थाना पंचवटी' लिखा दिखाई देने लगता है। अचानक दृश्य में पौराणिक और आधुनिक फ्यूज़न पोषाक में कांस्टेबल कृष्णसिंह सामने आता है। और यहीं से नाटक के भीतर फैंटेसी जन्म लेती है। राम और लक्ष्मण, सीता अपहरण केस की रपट लिखवाने आते हैं। उनका बाना और भाषा अपने युग के अनुरूप है पर थाना आज को प्रतिबिंबित करता है। इस तरह नाटककार ने दो युगों को एक कर दिया है। इससे नाटक में हास्य, जिज्ञासा और व्यंग्य की प्रखरता पैदा हुई है। थाने में एक अजब असमंजस है। लक्ष्मण पर शूर्पनखा पर किए अपराध हैं तो राम पर मारीच को मारने और ससम्मान उसकी अंत्येष्टि करके हत्या के सबूत मिटाने का अपराध। थानेदार के भीतर भी सोने के हिरणों का लालच जागता है। उसका कहना है ''सोने के बिस्कुट तो बनते थे सोने के हिरण भी बनने लगे और हमें पता ही नहीं। खैर पता तो मैं कर ही लूँगा...कॉफी माल बनेगा इसमें'' 2 मारीच प्रसंग को पहले तस्करी से जोड़ने और फिर मारीच को बड़े रसूख वाला समझकर सीता अपहरण को सही ठहराए जाने वाले दृश्य में बचने का रास्ता रिश्वतस्वरूप एक लाख स्वर्ण मुद्राओं का राम और लक्ष्मण से माँगा जाना, उस सज्जनता का कठघरे में खड़ा किया जाना है जो सत्य की लड़ाई लड़ रही है। थाने में सज्जनता, ईमानदारी, चारित्र्य, सदाशयता की हत्या देखकर राम और लक्ष्मण धनुष उठा लेते हैं। सभी की एक-एक करके हत्या होती है। नाट्यशास्त्र के अनुसार मंच पर हत्या दिखाना वर्जित है उसीके अनुरूप बाण लगने पर थानेदार, सेठ, वकील आदि सब बाण खाकर हँसते हुए मंच के पीछे चले जाते हैं। एक भिन्न अर्थ में यह नाटक इस व्यंग्य की सृष्टि करता है कि पौराणिक युग में भ्रष्ट पुलिस का अस्तित्व होने पर वहाँ

आज की तरह का भ्रष्टाचार व्याप्त रहता। दूसरे, भ्रष्टाचारियों के मरने के बाद भी भ्रष्टाचार जीवित रहता है। ये नाट्य युक्ति मंच पर इस रूप में बेहद कारगर सिद्ध होगी।

'सीता अपहरण केस' नाटक अपने चुस्त संवादों और नाटकीयता में मिथक और समकाल को एक साथ खड़ा करता है। वर्तमान समय और सत्ता के चाटुकारों का खुलासा नाटक करता है। दूसरे दृश्य के अंतिम हिस्से में थानेदार के मरने के बाद सेठ,नेता, पत्रकार जोकि थानेदार से नाभिनालबद्ध हैं उनका एक झटके में ही मर जाना कुछ अखरता है। हालाँकि उन्हें खत्म किए जाने की नाटकीय युक्ति सार्थक है।

सोते रहो

किताब का दूसरा नाटक है-'सोते रहो'। नाटक अपने शीर्षक से ही व्यंग्यात्मक ध्वनि का बोध कराता है। जनता अमन-चैन से रहे और सावधानी बरते इसलिए उनकी सुरक्षा के पहरेदार लगातार 'जागते रहो' का उद्घोष करते हैं। सोते रहो शीर्षक में व्यक्त ध्वनि, बेखबर होने को प्रतीकित करती है। जो व्यवस्था जैसी चल रही है उसी यथास्थिति पर कायम रहे इसलिए जागना उसके लिए बुरा लक्षण है और सोना उसके लिए उचित। बेखबर रहकर विद्रूपताओं का संसार समूची दृष्टि से ओझल रहता है। ऐसे में न कोई समस्या सिर उठाती है न ही दोष दिखाई देते हैं। इस नाटक के सभी किरदार हम सबकी रोजमर्रा की ज़िंदगी के पात्र हैं। तीन परिवार पंजाबी,बंगाली और दक्षिण भारतीय सपत्नीक मित्र हैं। पंजाबी परिवार में पार्टी है। जहाँ खाना-पीना चलता है। नाटककार ने एक-एक पात्र की एंट्री इस दृश्य के साथ की है। इन सभी पात्रों के आपसी संवाद में रोजमर्रा की बातचीत, हँसी-मज़ाक और इनकी बोलियाँ शामिल हैं। काफी देर तक नाटक का पाठक या दर्शक इनसे बारी-बारी परिचित होता चलता है। पर इस नाटक में नाटकीय क्षण या ड्रामेटिक मूवमेंट बड़ी देर में सामने आता है। वह घटना है एक शराबी से दक्षिण भारतीय महादेवन का झगड़ा। देर रात ज़बरदस्ती शराबी का उसके घर घुसे आना, उसकी पत्नी को डार्लिंग कहना और फिर होती है महादेवन और उसके बीच की तानातनी। सभी लोग जाग जाते हैं और हकीकत को जान लेते हैं पर प्रश्न है कि झगड़ा सुलझाने आगे कौन आए? सभी तमाशाई बनकर देखते रहते हैं। पुलिस के आने और शराबी को पकड़ने की कवायद में भी उन्हें अपने लिए खतरा नज़र आता है। पार्टी में पीने और मुँह से आ रही दुर्गंध के चलते पुलिस कहीं उन्हें ही न धर ले जाए। यह सवाल मन में आते ही आँखों के सामने महादेवन के साथ घट रही घटना को रोकने की बजाय सब अपने निज की चिंता में घुलने लगते हैं। एक भय भीतर समा जाता है जनता की रक्षक को भक्षक बनने में कितनी देर लगेगी?

नाटक जिस कथाढाँचे पर चलता है वहाँ दर्शक या पाठक सहज अनुमान के सहारे निष्कर्ष पर पहुँच जाता है। सब-इंस्पैक्टर का आना और मोहल्ले के चौकीदार से दरियाफ्त करते हुए कहना- ''डाकू नहीं है, शराबी है। ओए हम ऐसे ही इतनी देर करके आए...हमें तो फोन पर डाकू बताया गया था...पब्लिक भी पुलिस को डराने से बाज़ नहीं आती है...अब शराबी को पकड़ना सब-इंस्पेक्टर का काम है? से करम तो हमारा शराफतसिंह ही कर लेता। आज की रात तो हो गई बेकार। शराबी से क्या मिलेगा हज़ार दो हज़ार? और यदि कच्ची पीने वाला हुआ तो बस मारने को मिलेंगे दो -चार घूँसे। (चौकीदार सेद्ध क्यों बे किस साले ने हमको फोन किया था, पहले तो उसको अंदर करता हूँ...पुलिस को ग़लत इन्फोरमेशन देता है।'' 3 और इसके बाद सब-इंस्पेक्टर शराबी से बहकने का सेवा शुल्क और महादेवन से शिकायत

स्वरूप आने पर अपनी दक्षिणा का इंतज़ाम करता है। न कोई मुजरिम न कोई उपद्रव। मामला रफादफा हो जाता है। अंत में पुलिस के डंडे का यशगान और चौकीदार को सोते रहो की लोरी गाने का आदेश देकर इंस्पैक्टर चला जाता है।

इस तरह यह नाटक एक मुख्य घटना के जरिए दो पक्षों की पड़ताल करता है। एक साथ रहने वाले, साथ जीने वाले लोग भी खतरे में कैसे एक-दूसरे से छिटक जाते हैं तो दूसरे आम जन की सुरक्षा के ठेकेदार भी अपने दायित्व के प्रति उदासीन रहते हैं। इन दोनों पक्षों के बीच प्रेम जनमेजय व्यंग्य की कमान थामे रहते हैं। वह एक ओर सामाजिक दायित्व से परे निज की चिंता को तो दूसरी ओर सुरक्षा इंतज़ामों को धता बताते प्रशासन को आड़े हाथ लेते हैं।

दोनों ही नाटकों के प्रस्तुतिकरण पर अपनी बात रखूं तो ये नाटक मंचित होते हुए भी मुझे नुक्कड़ नाटक के अधिक करीब लगते हैं। इनमें मंचीय तामझाम अधिक नहीं है। दोनों ही नाटकों में एक-एक करके पात्रों की एंट्री का सुविधाजनक फॉर्म है। दोनों में ही आरंभ और अंत में गीत हैं और सबसे बड़ी बात इनका कथ्य किसी भी नुक्कड़, सड़क, स्कूल या कॉलेज के दायरे के लिए एकदम उपयुक्त है। जनता की कहानी, जनता की जुबानी और जनता के बीच प्रस्तुत किए जाने के नुक्कड़ नाटक के उद्देश्य को ये नाटक पूरा करते हैं। खासकर 'सीता अपहरण केस'। दोनों ही नाटक, प्रकारांतर व्यवस्था से सीधे सवाल उठाते हैं।

इसके अतिरिक्त दोनों ही नाटकों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उभयनिष्ठ बिंदु यह भी है कि इनके रंगसंकेत आम नाटकों से एकदम भिन्न हैं। कहा जा सकता है कि यह रंगसंकेत की नई ही शैली है। जहाँ सीधा-सपाट संकेत नहीं है। संकेत न होकर वहाँ वर्णनकौशल पर लेखक का बल रहा है। पात्र की एक-एक मुद्रा और दृश्य की मुख्य ज़रूरत को लेखक बिंब-योजना, प्रतीक और मुहावरेदारी के रूप में सामने लाता है। ऐसी माइन्यूट डिटेलिंग और रंगसंकेतों में भी हास्य-व्यंग्य को शामिल करना नाटक के पाठक में तो ज़रूर रससंचार करेगा पर नाटक के दर्शक के लिए यह व्यर्थ ही है। उदाहरण के तौर पर- ''थाने का नाम कलियुगी थाना है। थाना क्या है, जैसे भ्रष्टाचार, अनैतिकता और असत्य की मूर्ति है। कुरसी पर बैठा थानेदार ऐसा लग रहा है जैसो कीचड़ में काला कमल सुशोभित होता है। उसके चरण कमल सामने रखी मेज़ की फॉइलों पर पड़े घोषणा कर रहे हैं कि इस इलाके का सारा कानून इन चरणों के नीचे दबा है।''(पृ.37) मंचन की दृष्टि से निर्देशक चाहे तो इससे अनेक सूत्र पकड़ सकता है।

इस किताब में नाटकों के साथ रचनाकार का 'मेरा नाट्य प्रेम' शीर्षक से एक भूमिका सरीखा आत्मकथ्य है जो उनके नाटकों की दिशा में लगाव को सामने लाता है। इसके बाद 'सीता अपहरण केस' के निर्देशक के नोट्स भी शामिल हैं। नाटकों के बाद किताब का प्रमुख हिस्सा है नाटककार-नाट्यालोचक डॉ. प्रताप सहगल का 'दो व्यंग्य धमाके' शीर्षक से एक संक्षिप्त लेख। यह लेख व्यंग्य नाटक की संरचना, उसके ज़रूरी बिंदुओं, दोनों नाटकों के विविध पक्षों पर अपने विचार व्यक्त करता है। व्यंग्य नाटकों को अन्य नाटकों से भिन्न बताते हुए वे कहते हैं-''कोई भी नाटक बिना 'ड्रामेटिक आयरेनी' के नाटक नहीं बनता। इस तर्क के जवाब में यह कहा जा सकता है कि व्यंग्य नाटक की 'ड्रामेटिक आयरनी' न सिर्फ उसके नाट्य व्यापार में है बल्कि उसमें दृश्यों के हर फ्रेम में और उससे भी ज़्यादा उसके संवादों में होती है। यह दो बातें हमें निरे नाटकों में नहीं मिलतीं और यही दो बातें मुख्यत: व्यंग्य नाटक को व्यंग्य लेखन विधा में प्रवेश दिलवाती हैं।''4 इस तरह प्रेम जनमेजय के ये दोनों नाटक व्यंग्य की आधारभूमि पर भ्रष्ट तंत्र की विद्रूपताओं को सामने लाते हैं।

संदर्भ

1 दो व्यंग्य नाटक : डॉ. प्रेम जनमेजय, पृ.138
2 वही, पृ. 47
3 वही, पृ.87
4 वही, पृ. 96

❐❐❐

ई-112, आस्था कुंज अपार्टमेंट्स
सेक्टर -18, रोहिणी, दिल्ली-89
मोबाइल 9811585399
pragya3k@gmail.com

नई पुस्तक

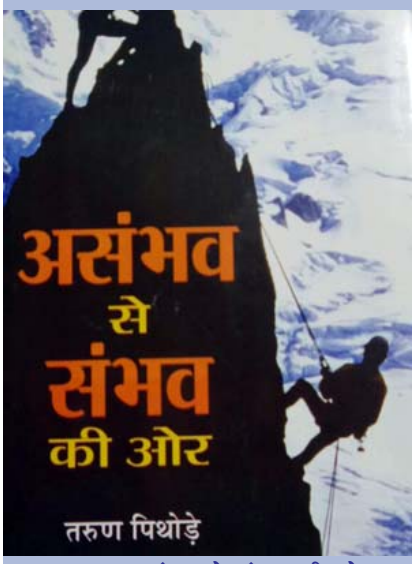

पुस्तक: असंभव से संभव की ओर
(उपन्यास)
लेखक: तरुण पिथोड़े
प्रकाशक: प्रतिभा प्रतिष्ठान
मूल्य : 300 रुपये, पृष्ठ : 192

असंभव से संभव की ओर तरुण पिथोड़े का संस्मरणात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है। यह उपन्यास जैसा कि इसके नाम से ही ज़ाहिर होता है सकारात्मक सोच पर केंद्रित है। कथा नायक के जीवन में आने वाली परेशानियों से पार पाने के लिए वह किस प्रकार सकारात्मक सोच का सहारा लेता है तथा अंत में अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है, यह उपन्यास उसीकी कहानी है। संस्मरणात्मक होने के कारण यह उपन्यास रोचक बन पड़ा है। हालाँकि जैसे-जैसे उपन्यास अंत की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे उपन्यास को समाप्त करने की लेखक की हड़बड़ी पाठक को थोड़ा परेशान करती है। पूरे उपन्यास और अंत के कुछ पृष्ठों की गति में बहुत अंतर है। फिर भी लेखक का प्रथम प्रयास पठनीय है यह कहा जा सकता है।

❐❐❐

समीक्षा-पत्र

बेहद दिलचस्प कहानियाँ

डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी

पुस्तक: सच कुछ और था (कहानी संग्रह); लेखक: सुधा ओम ढींगरा
प्रकाशक: शिवना प्रकाशन

प्रिय सुधा जी,

परसों ही मुझे आपका कहानी संग्रह ''सच कुछ और था'' मिला और मैंने समस्त व्यस्तताओं के बावजूद पूरी किताब मात्र दो दिनों में ही पढ़ भी डाली। आपकी कहानियाँ मैंने पहले भी पढ़ी हैं। आपकी 10 प्रतिनिधि कहानियाँ तथा कमरा नंबर 103 के अलावा आपका उपन्यास नक़्क़ाशीदार कैबिनेट भी मैंने पढ़े हैं। आपकी कहानियाँ के बारे में कुछ बातें यहाँ कहूँगा गो कि मैं आलोचक नहीं हूँ, और वैसी भाषा भी मेरे पास नहीं है। मैं तो बस एक सजग पाठक और सजग रचनाकार के तौर पर आपकी कहानियों को किस तरह देख पाया हूँ, वह बात यहाँ कहूँगा।

आपकी कहानियों में एक बात जो तुरंत ही पाठक को पकड़ती है वह है आपकी क़िस्सागोई की कला। आज की कहानी से प्राय: यह कला लुप्त सी होती जा रही है। आप अद्भुत क़िस्सागोई साधती हैं। आप कहानी की पहली पंक्ति से ही पाठक में एक उत्सुकता जगा देती हैं जो आगे आहिस्ता आहिस्ता बढ़ती ही जाती है। आपकी प्राय: कहानियाँ, अब क्या होगा, अब यह बात यहाँ से कहाँ जाएगी, का भाव पाठक में जगाए रखती हैं, और यह बहुत बड़ी बात है। चाहे वह, सच कुछ और था, हो, या पासवर्ड की कथा, या उसकी खुशबू, या फिर विकल्प, हर कहानी में निरंतर एक उत्सुकता सी आदि से अंत तक बनी रहती है। मशहूर कथाकार स्वदेश दीपक ने कभी मुझसे बातचीत में कहा था कि कहानी कहने की कला कुछ यूँ है मानों कि कथा लेखक की मुट्ठी में कोई एक चमकीली सी चीज़ हो जिसे वह कहानी रचते हुए, धीरे-धीरे खुलती मुट्ठी की उँगलियों के बीच की जगह से उजागर भी करता है और छुपाए भी रखता है, और अंतत: जब तक मुट्ठी पूरी नहीं खुल जाती अर्थात् कहानी जब तक अंत तक नहीं आती पाठक बस उत्सुकता में ही भरा रह जाता है कि मुट्ठी खुलने पर अंतत: निकलेगा क्या? लगभग यही गुण आपकी कहानियों में भी है। आपकी कहानियाँ बेहद दिलचस्प कहानियाँ हैं। यह कहानी का यूँ दिलचस्प होना समकालीन कथा संसार में एक दुर्लभ घटना है। आप कहानी में प्रयोग के नाम पर, या फिर फैशन के तहत कभी कहानी को इतना दुरूह या सांकेतिक नहीं बनातीं कि पाठक उसे समझ ही ना पाए। आपकी कहानियाँ बेहद सरल होते हुए भी अपने कथन में, तथा जीवन का जो पल आप कहानी पकड़ रही हैं उसमें, बेहद सरल होते हुए भी जटिल कहानियाँ हैं। सरलता के साथ इस जटिलता को साधना ही अच्छी क़िस्सागोई वाले कथाकार को विशेष बनाता है।

आपकी कहानियों की एक और बहुत महत्त्पूर्ण विशेषता आपकी कहानियों में स्त्री मन कि वह गहरी पड़ताल है जो केवल आप जैसी संवेदनशील स्त्री कथाकार ही कर सकती है। आपकी कहानियों की नारी, चाहे वह भारतीय हो या फिर कोई विदेश विदेशी स्त्री, आप बताते हैं कि स्त्री मन सब जगह एक सा है और परिवार के प्रति उसकी चिंता भी लगभग एक सी ही है। आप बगैर स्त्री विमर्श का कोई हल्ला किए, स्त्री विमर्श की बड़ी कहानियाँ लगातार रचती गई हैं। आपके इस संग्रह की लगभग सारी कहानियाँ में भी, केन्द्र में स्त्रियाँ ही हैं। खासतौर पर आपकी कहानियों में उस स्त्री का मन भारत के हिन्दी पाठकों को प्रवासी परिवार के जीवन अनुभवों के विषय में एक नया संसार खोल कर रख देता है। जो स्त्रियाँ अनेकानेक कारणों से भारत से निकलकर प्रवासी जीवन जी रही हैं, उनकी परेशानियाँ, उनके आनंद, उनकी चुनौतियाँ, उनकी चिंताएँ और उनका परिवार तथा पारिवारिक जीवन, सब कुछ आपकी कहानियों में कुछ यूँ आता है कि वहाँ प्रवास में रह रहे भारतीय परिवार का एक पूरा परिदृश्य पाठक के सामने उजागर हो जाता है। आपकी स्त्रियाँ बाहर जाकर भी भारतीय जीवन मूल्य के प्रति बेहद सतर्क तथा प्रतिबद्ध तो है परंतु प्रवासी जीवन में अपने आसपास रहने वाले विदेशी परिवार और स्त्रियों तथा उनके समाज गौर संस्कृति में जो कुछ भी अच्छा है, गौर भारतीय परंपरा में जो भी ग़लत है वह भी आपकी नज़रों से ओझल नहीं। आप विदेशी जीवन में जो अनुशासन परिश्रम तथा लगन बताते हैं वह आपकी कहानियों में एक नया बैकग्राउंड रचता है। एक पूरा-पूरा चित्र उस प्रवासी समाज का और परिवार का आपकी हर कहानी में है। आपकी कहानियाँ, यदि मैं कहूँ कि प्रवासी स्त्रियों की कहानियाँ है, और प्रवासी परिवार उस विदेशी ज़मीन पर कैसे पनपते बढ़ते है, उसकी कहानियाँ है, तो यह ग़लत ना होगा। मुझे आपकी कहानियाँ पढ़ते हुए बार-बार मालती जोशी और शिवानी याद आते रहे हैं; यद्यपि शिवानी जी की भाषा और मालती जी के पात्रों का परिवेश एकदम अलग सा है। आपकी कहानियों में सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष मुझे इनकी प्रवासी कहानियाँ होना है। बहुत से अच्छे बुरे प्रवासी कथाकार हिंदी कथाकार कहानियाँ रच रहे हैं परंतु बहुत सी उनकी कहानियाँ पीछे छूट गए भारत की कहानियाँ है, नॉस्टेल्जिया है, यादें है, और छूट गए भारत के बरक्स प्रवास जीवन का एक तुलनात्मक अध्ययन जैसा है। जबकि आपकी कहानियाँ प्रवासी ज़मीन पर उगे हुए भारतीय बरगद की भाँति गहरी जड़ों की कहानियाँ है और यह बड़ी बात है।

हम जब प्रवासी भारतीय कथाकार की कहानी पढ़ने बैठते हैं तो हम जानना चाहते हैं कि वह वहाँ रह कर, वहाँ के समाज को और अपने साथी समाज को कैसे देख रहा है? वहाँ से कौन सी कथाएँ वह उठाता है? ऐसी कथाएँ, जैसी आप लिखती हैं वही शख्स उठा

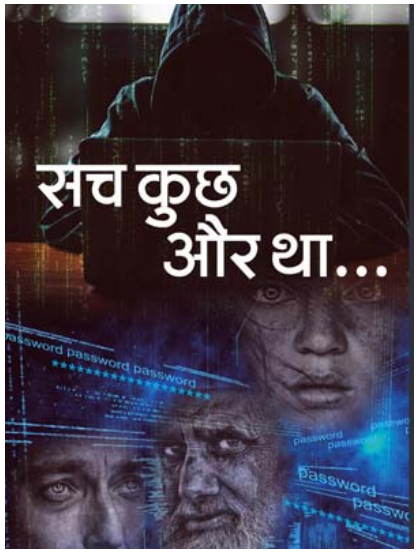

और रच सकता है जो वहाँ के प्रवासी भारतीय समाज में तथा विदेशी समाज में भी बराबरी से अंदर तक धसा हुआ हो।

तो क्या आपके इस संग्रह में सारी कहानियाँ वैसी ही है जैसी मैंने ऊपर बताई? नहीं, दुर्भाग्यवश वैसा नहीं है। मन तो मेरा भी था और शायद आपका भी रहा होगा कि सारी कहानियाँ, उसकी ख़ुशबू, सच कुछ और था, पासवर्ड, विकल्प इत्यादि कहानियों के पाये की हों पर वे वैसी बन नहीं पाईं। क्यों ब्याही परदेस, काश ऐसा होता आदि ऐसी ही कहानियाँ है। इन कहानियों में सेंट्रल थीम तो अपनी जगह दुरुस्त है परंतु यह अधकच्ची उतार ली गई डिशेस हैं। ऐसे ही मुझे यह भी लगता है कि बेघर सच और विष-बेल भी और बेहतर कहानियाँ हो सकती थीं। बहरहाल, आपको इस बेहतरीन कथा संकलन के लिए बहुत-बहुत बधाइयाँ।

सादर, ज्ञान चतुर्वेदी

❐❐❐

ए-40, अलकापुरी
भोपाल, मध्यप्रदेश 462024
मोबाइल 9425604103
ईमेल gyanchaturvedibpl@gmail.com

सूचना

फ़िल्म निर्देशक श्री कृष्ण कांत पण्ड्या के अमेरिका प्रवास पर होने के कारण इस बार उनका स्तंभ 'पेपर से पर्दे तक' इस अंक में नहीं दिया जा सका है। अगले अंक में आपको यह स्तंभ पढ़ने को मिलेगा। धन्यवाद। **-कार्यकारी संपादक**

पुस्तक चर्चा
विलायतीराम पाण्डेय

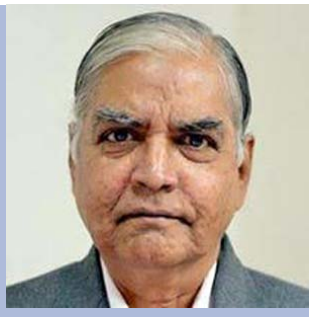

फ़ारुक़ आफ़रीदी

पुस्तक: लघुकथा संग्रह
लेखक: लालित्य ललित
प्रकाशक: गीतिका प्रकाशन

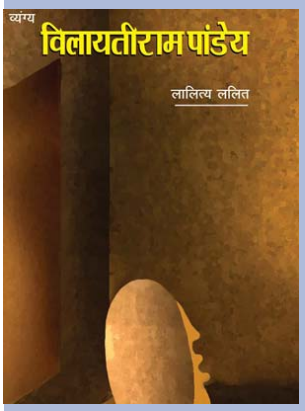

लालित्य ललित व्यंग्य के एक सुपरिचित हस्ताक्षर हैं। हाल ही आए इनके दूसरे व्यंग्य संग्रह 'विलायतीराम पाण्डेय' को पढ़ते हुए लगता है कि वे समय की नब्ज़ पर उँगली रखते हुए जगत् की विसंगतियों, विडम्बनाओं, विपदाओं और विषमताओं की सूक्ष्मता से ख़बर लेते हैं। ये व्यंग्य धाराप्रवाह भाषा में हैं जो पाठक को बाँधे रखते हैं। ऐसा लगता है मानों हम रचना के संग प्रत्यक्ष संवाद कर रहे हैं। इनमें कहीं-कहीं तो बहुत गहरे तंज़ हैं। परिवार, समाज, राजनीति, धर्म, मध्यवर्गीय जीवन की ऊहापोह, इंसानी फितरत, कोढ़ रूपी भ्रष्टाचार, मानव मन की मजबूरियाँ, उसकी चिंताएँ, सके अवसाद आदि सभी विषय व्यंग्य की परिधि में आए हैं। देश में आर्थिक सुधारों के नाम पर होने वाले फैसलों की अच्छी बुरी छाया भी प्रतिबिम्बित हुई है। व्यंग्यकार ने अपनी एक खास शैली में इन्हें अभिव्यत किया है। इन रचनाओं के जरिए उनके व्यंग्य कौशल को यहाँ कसौटी पर कसा जा सकता है। ललित के व्यंग्यों में हास्य का पुट भी मिलता है। इससे लगता है कि व्यंग्य के धीर गंभीर लेखकों की भाँति उन्हें हास्य से परहेज़ नहीं है, यद्यपि उनके व्यंग्य लेखन का उद्देश्य भी मनोरंजन से ऊपर उठकर करुणा को उपजाना और संवेदना को जगाना रहा है। अपनी इस प्रतिबद्धता को अभी उन्हें और मजबूत रस्सी से पकड़ने की ज़रूरत है।

ललित के संग्रह का नायक-अनायक विलायती राम पाण्डेय है। इस पात्र के जरिए लेखक ने देश, काल और परिस्थितियों के हाल-बदहाल की चर्चा की है। इन्हें पढ़ते हुए पाठक मन्त्र मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता; क्योंकि उनके व्यंग्य का कहन इतना सहज और ग्राह्य है कि पाठक उसमें बँध सा जाता है। ललित क्लिष्ट भाषा से बचते हैं इसलिए उनके व्यंग्यों की भाषा सरल है; हालाँकि वे कहीं-कहीं अनायास ऐसी टिप्पणियाँ कर डालते हैं, जिनसे बचा जाना चाहिए। समकालीन रचनाकारों में लेखक की गणना सबसे सक्रिय रचनाकारों में होती है। मानवीय जीवन में श्रेष्ठता और टुच्चापन दोनों प्रकार की प्रवृतियाँ पाई जाती हैं। व्यंग्यकार ने इन प्रवृतियों को ही सूक्ष्म दृष्टि से देखा, परखा और उन पर निशाना साधा है। प्रवृत्तियों के गुण-दोषों से उत्पन्न हालातों की पड़ताल करने का प्रयास इन रचनाओं में किया गया है। व्यंग्यकार ने व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि को पड़ताल का आधार बनाया है। व्यंग्यकार की चौकस निगाहें यहाँ वहाँ सब जगहों पर हैं। यह उसका धर्म भी है और कर्तव्य भी। विद्रूपता की ओर तेज़ी से अग्रसर समाज को समय के आईने में उसका अक्स दिखाने लेखक कोई चूक नहीं करता बल्कि वह अपने पैरों में सुलग रही आग को भी देख रहा है। इन रचनाओं के जरिए वह नैतिक मूल्य और सुचिता से ओतप्रोत समग्र समाज की परिकल्पना करता है जो अभी दूर की कौड़ी है। ललित का व्यंग्यकार अपने आसपास की विसंगतियों को गंभीरता से समझने और उन पर प्रखर प्रहार करने वाला व्यंग्य लेखक बनने की प्रक्रिया में दृष्टिगत होता है।

❐❐❐

बी-70/102, प्रगतिपथ, बजाज नगर, जयपुर-302015
मोबाइल 94143 35772, ईमेल faindia2015@gmail.com

समीक्षा

विघटन : शहर के समय का आईना

शैलेंद्र अस्थाना

पुस्तक: विघटन (उपन्यास); लेखक: जयनंदन
प्रकाशक: राजपाल प्रकाशन

प्रसिद्ध स्पेनी आलोचक साहित्यकार राल्फ फॉक्स ने अपने लेख उपन्यास और यथार्थ में लिखा है कि उपन्यास का सरोकार व्यक्ति से होता है। यह समाज की प्रकृति के खिलाफ व्यक्ति के संघर्ष का महाकाव्य है।आज के क्रूर समय और क्लिष्ट समाज में जहाँ मनुष्य और समय दोनों अपना संतुलन खो चुके हैं, मनुष्य समाज और अपने साथियों से निर्ममता से युद्धरत है। ऐसे ही संघर्ष की गाथा है कथाक्रम पुरस्कार से सम्मानित लेखक जयनंदन का सद्य: प्रकाशित उपन्यास विघटन (प्रकाशक : राजपाल एंड संस, दरियागंज दिल्ली, मूल्य 350 रुपये). यह उपन्यास पाठकों को उड़ाकर किसी अनजाने द्वीप में नहीं ले जाता, ना ही चाँद सितारों की काल्पनिक दुनिया की सैर कराता है। यह हमारे आसपास बिखरे यथार्थ, हमारे बीच घट रही घटनाओं, हमारे आँखों के सामने बन-बिगड़ रही कथाओं जिससे लोग तवज्जो नहीं देते वरन देखकर कुढ़ते हुए रास्ता नाप लेते हैं को बड़ी संजीदगी से परत दर परत उधेड़ते हुए हमारे सामने प्रस्तुत करता है। उस यथार्थ से परिचय कराता है जो हमारे समाज और हमारे जीवन को घुन की तरह खाए जा रहा है। उपन्यास के कई आयाम हैं, कई रंग हैं. यह समाज ओर सामाजिक जीवन को विभिन्न कोणों से देखने और समझने का प्रयास करता है। उपन्यास में घटनाएँ इस प्रकार और ऐसी भाषा में उकेरी गई है कि ये पूरी प्रामाणिक और जीवन यथार्थ से उपजी हुई लगती हैं। विघटन झारखंड के एक औद्योगिक शहर विधाता नगर और वहाँ के लोगों के जीवन तथा उनके संघर्ष पर केंद्रित है। घटनाओं को संजीदगी ईमानदारी और दिलचस्प ढंग से कहानी में पिरोया गया है। पुस्तक को पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे घटनाओं को घटित होते हुए वहीं कहीं आसपास खड़े देख रहे हों। उपन्यास का यह विधाता नगर कोई काल्पनिक नगर नहीं लगता वरन हमारा जाना पहचाना कोई औद्योगिक नगर जमशेदपुर (टाटानगर) लगता है और पात्र भी आसमान से टपके चरित्र नहीं वरन हमारे बीच के हमारे साथ हँसते झ-रोते, जीते-मरते लोगों में से एक लगते हैं।लेखक का यथार्थ की पकड़, उसकी प्रामाणिकता इसे अपने काल खंड का इतिहास बना देती है।

यह उपन्यास समाजसेवी एवं चिंतक मास्टर ताराकांत के उच्च नैतिक मूल्यों तथा आदर्शों पर आधारित सिद्धांतों पर निर्मित समाजसेवी संस्था वरदान पुष्प के संघर्ष की कहानी है। यह संस्था मास्टर ताराकांत के शिष्यों-दृढ़ निश्चय संघर्षशीलता, निर्भीकता, ईमानदारी आदि उच्च गुणों से लैस उच्च शिक्षा प्राप्त युवक-युवतियों के द्वारा संचालित है और समाज सेवा तथा नि:स्वार्थ सेवा की कई मिसाले कायम कर सूबे भर में जाना जाने लगा है। इस संस्था का प्रमुख कार्यकर्ता और उपन्यास का नायक सोनवारे नरहरि शहर की एक छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण समस्या पूरे शहर को परेशान करने वाले सड़क जाम से स्थाई रूप से निजात दिलाना चाहता है और इसके लिए एक अनोखा प्रस्ताव रखता है। लोग वर्षों से इस जाम को सहते अनेक हानि उठाते आ रहे थे किन्तु इसके विरुद्ध बगावत का हुंकार तक निकालने का कोई साहस नहीं कर पा रहा था। इसका कारण था बाज़ार के बीचों बीच स्थित कब्रगाह तथा स्टेशन रोड पर स्थित दो मंदिर। धार्मिक भावना से जुड़े होने के कारण इस पर बात करने की कौन कहे कोई इधर आँख उठाकर देखना भी नहीं चाहता था। न प्रशासन न इस औघोगिक शहर का प्रबंधन करने वाला विधाता स्टील। विधाता स्टील को वरदान पुष्प के कंधे पर बंदूक रख कर चलाने का अवसर दिखता है और प्रबंधन हिचकिचाहट के साथ योजना स्वीकार कर लेता है। इस बिसात का एक और खिलाड़ी है वरदान पुष्प से अदावत रखने वाला चौला सिंह, एक सांप्रदायिक गिरोह का सरगना। वह कंपनी प्रबंधन की ज़रूरत भी है और मुसीबत भी है, उनकी आँखों का तारा भी है और काँटा भी, शत्रु भी और प्रेम का पात्र भी। किन्तु वरदान पुष्प से उसकी शत्रुता स्थाई है। उलझे समय और उलझी व्यवस्था में समस्या का समाधान भी उलझा ही होगा - अनुमान से अलग और विरूपित।

वर्षों से चली आ रही जाम की इस समस्या, जिसके विरुद्ध लोग अपनी भीरुता और सिले होंठ की चादर से बाहर निकलने का

साहस नहीं जुटा पा रहे थे, के लिए समाधान की कल्पना और योजना वरदान पुष्प के साथियों की निर्भीक और आउट ऑफ द बॉक्स लीक से हटकर सोचने की प्रक्रिया का परिणाम था। किन्तु इस आसान से समाधान के लिए भी सरकार और कंपनी प्रबंधन चौला सिंह तथा लकीर के फकीर कठमुल्लाओं के सामने बौने दिखते हैं। उपन्यास अपने समग्रता में संघर्ष के साथ निर्माण की अनिवार्यता को भी रेखांकित करता है।

वरदान पुष्प का संघर्ष केवल जाम को इस समस्या तक ही सीमित नहीं रहता। चुनाव के समय वे अपना एक राजनीतिक दल का निर्माण भी करते हैं और अपने प्रत्याशी खड़े करते हैं। उनका एक महत्त्वपूर्ण प्रत्याशी फुलोदा बेसरा जो कालू मुंडा भूतपूर्व मुख्यमंत्री के विरुद्ध खड़ा है उसकी हत्या हो जाती है। स्पष्टत: यह कालू मुंडा द्वारा कराई गई है, क्योंकि उसको समझ में यह आ गया था कि वह फुलोदा से हार रहा है किन्तु इस घटना से भयभीत होने के बजाय कालू मुंडा से बदला लेने के लिए फुलोदा की पत्नी तिरिल (मास्टर ताराकांत की बेटी) प्रसूति गृह से ही अपने पाँच दिनों की बेटी को लेकर उसी सीट से चुनाव लड़ने का फैसला करती है और जीत भी दर्ज करती है। महावर शर्मा को छोड़कर वरदान पुष्प के सारे उम्मीदवार जीत जाते हैं। प्रख्यात मानवाधिकार कार्यकर्ता समाज सेवी ज़रूरतमंदों की सहायता करने के लिए पूरे शहर में विख्यात और शहर के लोगों के अंदर के पात्र महावर शर्मा जैसा योग्य उम्मीदवार के विरुद्ध विधाता स्टील प्रबंधन चौला सिंह को खड़ा करता है और उसे मदद करता है और चौला सिंह जैसे घटिया और खूँखार उम्मीदवार से जो समाज का खानदानी शत्रु रहा है, से महावर शर्मा को हार जाना पड़ा।

हारे लोकतंत्र की जाति धर्म और टूटे सब्जबागों पर फिसल जाने वाली भेड़ियाँ धंसान जनता मज़दूरों और गरीबों पर ज़ुल्म के विरुद्ध खड़े होने वाले उन्हें मदद देने वाले महावर शर्मा को हराने के लिए चौला सिंह जैसे क्रिमिनल को टिकट दिलवाना जोड़तोड़ कर जितवाना और फिर उसे मंत्री बनवाना प्रजातंत्र पर प्रश्नचिह्न भी खड़ा

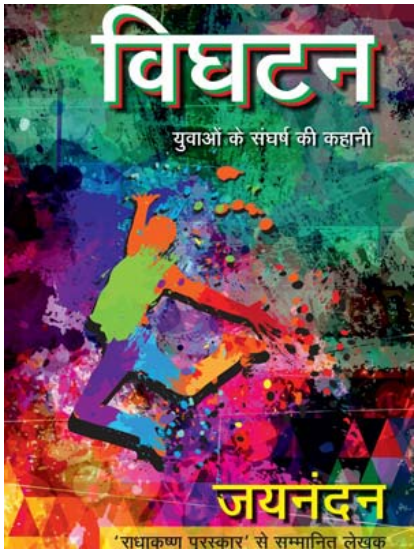

करता है और कंपनी प्रबंधन के जालिमाना हरकतों को भी उजागर करता है।

उपन्यास मुख्य कथा के साथ नगर के मज़दूर संगठनों की दुखद स्थितियों उनमें पनपे भ्रष्टाचार और उनकी दुर्बलताओं के चित्र भी उपस्थित करता है। मज़दूर संगठन मज़दूरों का हित साधक नहीं वरन विशिष्ट सुविधाओं के बदले प्रबंधन का हित साधने वाली एजेंसी बन गया है। वरदान पुष्प के प्रभाव में आकर ऐसा ही एक नेता मुरारी लाल कंपनी की दलाली छोड़ कर जब मज़दूरों के पक्ष में खड़ा होता है तो शक्ति और अहिंसा का राग अलापने वाली कंपनी उसकी हत्या करा देती है।

ना रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। सरकार भी प्रबंधन के बचाव के पक्ष में खड़ी दिखाई देती है, मज़दूरों और न्यास के पक्ष में नहीं, शिक्षा नीति के दोहरे चरित्र शिक्षा क्षेत्र की बदहाली, जान जोखिम में डालकर काम कर रहे मज़दूरों की बेचारगी तथा समाज में ऐसे ही चल-फल रहे कितनी ही विकृतियों असंगतियों और ज़ुल्मों की कहानियाँ उपन्यास में मुख्य कहानी से जुड़ी हैं। अबांतर कथा के रूप में नहीं वरन मुख्य कथानक की लड़ी में उपन्यास एक आदर्श संस्था के निर्माण तथा उसके ईमानदार चेष्टा और निजी हितों के बलिदान की कहानी कहता है। वरदान पुष्प द्वारा संचालित अपना होटल को पाँच सितारा होटल बनाने के लोभ में कार्यकर्ताओं की इमानदारी तथा नि:स्वार्थ भाव के बावजूद संगठन के सिद्धांत का क्षरण होता है, उसके आदर्शों का विघटन होता है। यह पूँजीवादी बाज़ारवाद के व्याकरण की परिणति भी हो सकता है और हमारी मानसिकता में पूँजीवादी मुनाफा और ग्रोथ की मायावी अवधारणा की छाया भी। यह घटना इस यथार्थ को रेखांकित करती है।

विघटन केवल परिवेश की परिक्रमा ही नहीं करता वरन् मन की अतल गहराइयों के गोते भी लगाता है। रागात्मक संबंधों के क्लिष्ट सूत्रों को भी सूक्ष्मता तथा संवेदनशीलता से रेखांकित करता है। तिरिल तथा संज्ञा का नरहरि से प्रेम एवं इसकी अद्भुनत अंतरंग अभिव्यक्ति तथा इसकी परिणति उपन्यास को मार्मिक बनाती है साथ ही प्रेम को समझने के लिए एक नया वातायन खोलती है। उपन्यास का एक और दिलचस्प हिस्सा है - दो नदियों, स्वर्णरेखा तथा खरकाई एवं दलमा पहाड़ का वार्तालाप। उनके अंतरंग वार्तालाप के क्रम में शहर का इतिहास, इसका संघर्ष तथा इससे जुड़ी त्रासदी उद्घांटित होती है। इस वार्तालाप में वे अपना अस्तित्व एवं अपनी उपयोगिता भी अन्वेषित करते हैं। नदी पहाड़ को मानवीयकरण तथा उनपर प्रेम-रागादि भावों का रोपण उपन्यास में काव्यात्मकता तथा जीवंतता भरते हैं । पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग तथा स्थानीय शब्दों का उपयोग स्थानीयता को प्रामाणिक बनाते हैं।

उपन्यास अपने अंतिम चरण में कई मोड़ों, कई टर्न एंड ट्विस्ट से गुज़रता है और एक त्रासद घटना से समाप्त होता है। किन्तु यह हताशा या निराशा उत्पन्न नहीं करता। उपन्यास का कोई अंश उबाऊ नहीं है और इसके प्रारंभ से अंत तक दिलचस्पी बनी रहती है और पाठक कहानी से बंधा रहता है। अपने समग्रता में विघटन शहर के मजदूरों के दुख-दर्द की तथा उनके संघर्ष की एवं हार की व जीत की और उच्च नैतिक मूल्यों के वाहक युवक-युवतियों में नए विचारों-संघर्षों के प्रस्फुटन का दस्तावेज़ है। पठनीयता दिलचस्प और मन को झकझोरने वाला।

❑❑❑

ए - 4/6, चंद्रबली उद्यान, रोड नं. 1,
काशीडीह साकची, जमशेदपुर - 831001
(झारखंड)
मोबाइल 09431328758

सजदे में आकाश

प्रदीप कांत

पुस्तक: सजदे में आकाश (ग़ज़ल-संग्रह); लेखक: कुमार विनोद
प्रकाशक: अंतिका प्रकाशन

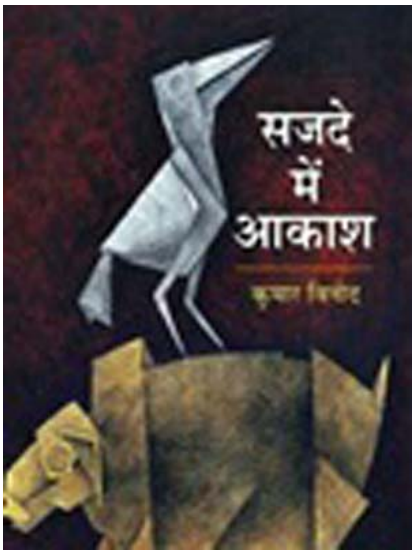

भले कितनी ही साधारण हो दिखने में कोई लड़की, पिता फिर भी कहेगा मेरी बिटिया ख़ूबसूरत है

कितनी आसानी से और नपे तुले शब्दों में बेटी के लिए पिता के प्यार को उकेर दिया गया है। कहन का यह संवेदनात्मक सलीक़ा है हिन्दी ग़ज़ल के सुपरिचित हस्ताक्षर डॉ. कुमार विनोद का। एक ग़ज़ल संग्रह बेरंग हैं सब तितलियाँ से ग़ज़ल में अपनी पहचान बनाने के बाद यह इनका दूसरा ग़ज़ल संग्रह है - सज़दे में आकाश। इस संग्रह में गज़लकार का झुकाव प्रकृति, आध्यात्म और जीवन के अंतर्संबंधों की तरफ दीखता है। जीवन में फ़ुर्सत के पल ढूँढ़ते ग़ज़लकार को अचानक ध्यान आता है कि कर्म ही जीवन है, वह कह उठता है-

कहाँ दरकार सूरज को किसी छुट्टी की रहती है
नदी को भी कहाँ फ़ुर्सत वो संडे को भी बहती है

जाँ निसार अख्तर ने कहा था-

हमसे पूछो कि ग़ज़ल क्या है, ग़ज़ल का फन क्या
चन्द लफ़्ज़ों में कोई आग छुपा दी जाए

बिलकुल- दो मिसरों में एक मुकम्मल बात करनी होती है, वह भी पूरे छंदात्मक अनुशासन में। यानी जिस विषय को उठाया जाए वह दो मिसरों में मुकम्मल हो जाए। वर्त्तमान हिन्दी ग़ज़ल में विविध विषय हैं - व्यक्ति से लेकर समाज तक, प्रकृति से लेकर आध्यात्मक तक। अपने इस ग़ज़ल संग्रह में कुमार विनोद का ग़ज़लकार प्रकृति और आध्यात्म के निकट नज़र आता है। चिड़िया, हवा, सूरज, धूप, तितली, फूल इन ग़ज़लों में बार बार आते हैं। ऐसा नहीं की रचनाकार को जो दिखता है वही रचता है। जो दिखता है वह तो समझ में आता है पर जो नहीं दिखता उसे समझने की कोशिश करता है और इसी कोशिश में वह रचना में आ जाता है। कुमार विनोद का ग़ज़लकार भी ऐसी कुछ चीज़ें रचता है जो वही आध्यात्म या दर्शन है जिसे तरह तरह से समझने की कोशिश जारी है।

फूलों में ख़ुशबू भी आख़िर कोई तो भरता होगा
तितली के रंगीन परों को इतना कौन सजाता है

रचनाकार की रचना में इसी संसार का योगदान होता है। रचनाकार लाख प्रकृति और आध्यात्म की बात कर ले पर मानवीय रिश्तों से अछूता तो नहीं ही रहेगा ना। तो यहाँ भी माँ, पिता, पत्नी, बच्चे सभी आते हैं -

पिता अब भी हैं कल जैसे, ज़रा ग़ुस्सैल, अकड़ -से
कहाँ बदली है माँ अब भी, वही, चुपचाप रहती है

कुमार विनोद का ग़ज़लकार इस जीवन से बहुत बेहतर तरीके से वाकिफ है। तभी तो वो कभी तर्क से कुछ नहीं सुलझाने से परेशान होता है तो कभी चाय की चुस्कियों में जीवन देखता है -

दोस्तों के साथ गपशप चाय की हों चुस्कियाँ
ज़िंदगी तो यूँ ही चलती जाएगी मुन्नू मियाँ

सार्थक सृजन अपने समकाल से मुठभेड़ करता है। कुमार विनोद का रचनाकार भी इस से अछूता नहीं है। वह ग़ज़ल में भी कभी इन्टरनेट, मेल की बात करने लगता है, व्हाट्सएप और पिंक कलर की स्कूटी की बात करने लगता है -

पिंक कलर की स्कूटी को वो कितना तेज़ भगाती थी
मैं ऐसा करता तो मुझको कस के पकड़े रखती थी

बात कितनी भी कठिन हो यदि वह सरलता से रचना में आ जाए और पाठक के भीतर तक उतरे तो अच्छा लगता है। अब शेक्सपीयर ने तो कहा था कि नाम में क्या रक्खा है लेकिन कुमार विनोद का ग़ज़लकार उसी कथन को पकड़ता है और एक बेहतरीन शेर होता है - शेक्सपीयर लाख कह दे नाम में रक्खा है क्या
जानते हैं लोग उसको भी तो उसके नाम से

हालाँकि प्रकृति व आध्यात्म के करीब इन ग़ज़लों में गाहे बगाहे है तो जीवन की झलकियाँ ही, किन्तु कुमार विनोद प्रत्यक्ष रूप से भी इस समाज और समकाल को पकड़ रहे हैं -

योग्य आदर के सभी कठपुतलियाँ
फिर किया राजा ने यह ऐलान है

बहरहाल, ये जो गज़लें हैं, अपने बिम्बों, प्रतीकों और कहन में एक ताज़गी लेकर आती हैं और पाठक के अंतर्मन में इनकी अनुगूँज बनी रहती है।

❐❐❐

24, सत्यमित्र राजलक्ष्मी नेचर, सूर्य मंदिर के पास
केट राव रोड, इन्दौर, मप्र 453330
मोबाइल 9407423354
kant1008@rediffmail.com

समीक्षा

पठनीय साहित्य रचने का एक नया प्रयोग

शशि कुमार पांडेय

पुस्तक: फ़ेक एनकाउंटर (व्यंग्य संग्रह), लेखक: डॉ. मुकेश कुमार
प्रकाशक: शिवना प्रकाशन

साहित्य में कल्पना का पुट होता है तो पत्रकारिता में तथ्यों की प्रबलता होती है। साहित्य की कल्पना को पत्रकारिता के तथ्यों की तरह पेश करना वाकई चुनौतीपूर्ण कार्य है; लेकिन इस कार्य को किया है जाने-माने टीवी पत्रकार डॉ. मुकेश कुमार ने अपनी पुस्तक 'फ़ेक एनकाउंटर' में। हिन्दी साहित्य की यह पहली पुस्तक है जो विशुद्ध पत्रकारिता की शैली में लिखी गई है। यह पुस्तक पत्रकारीय व्यंग्य (व्यंग्य पत्रकारिता) का अनूठा उदाहरण है।

साहित्य के बारे में कहा जाता है कि यह गंभीर होता है। शायद यही वजह है कि साहित्य के पाठक कम होते हैं। पत्रकारिता की शैली में पठनीयता होती है; क्योंकि यह समाज-देश की घटनाओं पर तथ्यात्मक तौर पर आधारित होती है; लेकिन इसमें तात्कालिकता अधिक होती है। क्या साहित्य में पत्रकारिता की तरह पठनीयता संभव है? जी हाँ, ऐसा संभव है। वास्तव में डॉ. मुकेश कुमार ने अपनी पुस्तक 'फ़ेक एनकाउंटर' के माध्यम से एक नया प्रयोग किया है जिसमें साहित्यिक व्यंग्य को पत्रकारिता की शैली में प्रस्तुत किया गया है और इन्हें पत्रकारीय व्यंग्य कहना उचित होगा। साहित्य में इसे एक नई शैली का समावेश माना जाना चाहिए। इस शैली की सबसे बड़ी ख़ासियत यह है कि पुस्तक की पठनीयता पूरी तरह बरकरार है। दावे के साथ कहा जा सकता है कि यदि कोई पाठक पुस्तक पलटते हुए भी इसका एक या आधा पेज पढ़ लेगा तो वह पूरी पुस्तक पढ़े बिना नहीं रह सकता। पाठकों को बाँधने की ग़ज़ब की टेक्नीक का इस्तेमाल किया है डॉ. मुकेश कुमार ने।

पुस्तक पठनीय होनी चाहिए, लेखक के मन में यह बात रही है। अपने 'लेखकीय' में पुस्तक के बारे में बात करते हुए वे कहते भी हैं- 'सीधे-सीधे कुछ लिखना न तो पठनीय होता और न ही उसमें उतना कुछ कहा जा सकता था। इसलिए काल्पनिक एवं व्यंग्यात्मक इंटरव्यू का सहारा लिया।' ये व्यंग्य विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे, लोगों की सराहना मिलती रही, यह इस बात का प्रमाण है कि इन व्यंग्य रचनाओं के पाठक हैं। लेखक ने बताया भी है- 'लोकप्रियता बताती है कि प्रयोग सफल रहा। यही नहीं इसने व्यंग्य लेखन के अंदर ही एक नई विधा रचने में भी कामयाबी हासिल कर ली।'

पुस्तक में समाहित जितने भी इंटरव्यू हैं, वे पूरी तरह काल्पनिक हैं। मूल चरित्र से बात करते हुए उनके मुँह से वही बातें कहलवाई गई हैं जो उनके मन में हो सकती हैं। ये इंटरव्यू अलग तरह के हैं यानी जन-सम्पर्क टाइप के नहीं हैं बल्कि पोल-पट्टी खोलने वाले हैं। ये पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे हैं तथा पाठकों की सकारात्मक प्रतिक्रिया मिलती रही जिसकी बदौलत लेखक ने इतने फ़ेक इंटरव्यू किए। इसके साथ ही कई लोगों की नाराज़गी भी झेलनी पड़ी, जैसा कि लेखक ने 'लेखकीय' में बताया है। अब ये सारे इंटरव्यू जिनकी संख्या 67 हैं, एक साथ पुस्तक के रूप में छपे हैं तो इसके लिए निस्संदेह डॉ. मुकेश कुमार को पत्रकारीय व्यंग्य शुरू करने का श्रेय मिलेगा। पत्रकारीय शैली में लिखे गए ये व्यंग्य इतने धारदार हैं कि कुछ लोग अदालत का दरवाज़ा भी खटखटा सकते हैं। इसके लिए लेखक को तैयार रहना पड़ेगा। यह इस पुस्तक का साइड इफेक्ट हो सकता है।

लेखक ने पुस्तक में सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक समेत तमाम तरह की विडम्बनाओं पर करारा प्रहार किया है। इसके लिए उन्होंने हर क्षेत्र के चरित्रों का सहारा लिया है। यही वज़ह है कि इनके इंटरव्यू में नरेंद्र मोदी, सोनिया गाँधी, लालू यादव, दिग्विजय सिंह, मुलायम सिंह यादव, शरद यादव, शिवराजसिंह चौहान, शत्रुघ्न सिन्हा, अरविंद केजरीवाल जैसे नाम हैं तो अमिताभ बच्चन, अनुष्का शर्मा, गुलाम अली, अदनान सामी के भी नाम हैं। इतना ही नहीं लेखक ने बराक ओबामा, नवाज शरीफ, मुशर्रफ, साक्षी महाराज, विराट कोहली जैसे चरित्रों को भी चुना है। कहने का तात्पर्य है कि हर क्षेत्र के चरित्र और वहाँ मौजूद समस्याओं पर 'फ़ेक एनकाउंटर' का अटैक साफ दिखाई देता है।

लेखक में कटाक्ष करने की बहुत अच्छी क्षमता है। ओबामा के इंटरव्यू में पत्रकारों पर कितना सटीक व्यंग्य किया है लेखक ने - 'मुझे समझ में नहीं आया कि ... मगर दूसरे वाले ने जवाब दिया -

देखिए, ओबामा प्रशासन ने इंटरनेट से इंडियन जर्नलिस्ट का नेम गेदर करके पाँच लोगों का लॉटरी निकाला था, उसमें आपका भी नाम था। चूँकि बाकी चार में से तीन ने बीजेपी तथा एक ने आप ज्वायन कर लिया है इसलिए ये चांस आपको मिल रहा है।'

'सेल्फी लेने न लेने की ख़ुशी और गम' में मुकेश जी ने आज के पत्रकारों पर एक और कड़ा प्रहार किया है- 'अचानक मुझे लगा कि भूकंप आ गया है। दरअसल किसी ने मेरी कुर्सी को धक्का दिया था। मैं हड़बड़ाकर उठा तो देखा मोदी जी हाथ जोड़े सबका अभिवादन करते हुए दरवाज़े की तरफ जा रहे हैं। मुझे कुछ समझ नहीं आया कि आखिर हुआ क्या? मोदी जी के आने वाला सीन कहाँ गया?... पलटकर देखा तो पत्रकार बंधु एक-दूसरे को अपने मोबाइल दिखा रहे थे। कुछ प्रफुल्लित थे, कुछ अति प्रसन्न। कुछ उदास और तन्हा।...मेरा मूड ऑफ हो गया। मैंने चाय-वाय छोड़ी और घर चला गया। घर में टीवी ऑन था। सारे पत्रकार अपने महिमागान में लगे थे। मेरी बीवी ने पूछा- कहाँ है मोदी जी के साथ आपका फोटो, दिखाइए ज़रा।' दरअसल आज के पत्रकार खबर से अधिक प्राथमिकता सेल्फी को देते है, वास्तव में लेखक ने संदेश दिया है कि पत्रकारों को इस तरह की सोच से अलग होना होगा तभी सही मायने में पत्रकारिता की जा सकती है।

रॉबर्ट वाड्रा के इंटरव्यू में लेखक ने बताया है कि प्रधानमंत्री बनने की क्या योग्यता होती है। लेखक ने वाड्रा से सवाल पूछा- 'आप किस दुनिया में रह रहे हैं? क्या आपको लगता है कि आप प्रधानमंत्री बन सकते हैं?

वाड्रा का जवाब देखिए- 'हाँ, हाँ, क्यों नहीं बन सकता? मुझमें आखिर कमी क्या है? मेरी छाती छप्पन इंच की है और मोदी जी ने कहा ही है कि इस देश को चलाने के लिए छप्पन इंच की छाती चाहिए।'

पूरी पुस्तक पढ़ने के बाद एक बात साफ हो जाती है कि लेखक समाज, देश तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त समस्याओं का पूरी तरह सफाया चाहता है। उनके मन में एक टीस है, पीड़ा है, एक बेचैनी है जो हर इंटरव्यू में उजागर होती है। लेखक अपनी बात यानी लोगों की समस्याओं को हर

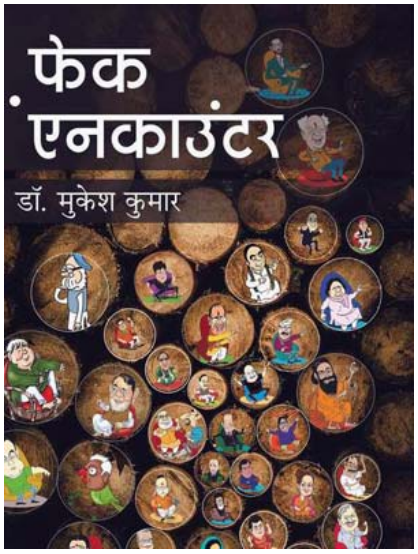

व्यक्ति तक पहुँचाना चाहते हैं, इसके साथ ही, वह लोगों को जागरूक भी करना चाहते हैं। इसी बात को ध्यान रखते हुए वे साधारण शब्दों में असाधारण बात कहते हैं जो पाठक के साथ ही पूरी व्यवस्था को झकझोरती है।

'मुख्यमंत्री था, हूँ और रहूँगा- शिवराज चौहन' शीर्षक इंटरव्यू में किस सहजता से व्यवस्था पर प्रहार है, देखिए- (मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान कहते हैं) 'आप भी टीवी एंकरों की तरह गरमाने लगे हैं। शांत हो जाइए, मैं आपके सवालों के जवाब देता हूँ न। देखिए छात्रों ने केवल प्रवेश परीक्षा में घपला किया, बाकी तो वे पाँच साल पढ़कर ही डॉक्टर बने न। इसलिए वे अयोग्य कैसे हो गए? दूसरी बात जहाँ तक नौकरियों में गड़बड़ी की बात है तो वह भी उचित नहीं है। आखिरकार वे ज़रूरतमंदों को ही दी गई है न। मेरी नज़र में सारे इंसान और ज़रूरतमंद बराबर हैं। मैं किसी को भेदभाव की नज़र से नहीं देखता। इसलिए इसे भी घोटाला नहीं माना जाना चाहिए। काँग्रेसी इसलिए हल्ला कर रहे हैं कि उन्हें ये करने को नहीं मिला।'

इंटरव्यू के शीर्षक इतने तीखे और व्यंग्यात्मक हैं कि वे प्रहार करते हुए पूरी बात कह देते हैं, जैसे- मैं तो तिहाड़ में ही मज़े में हूँ- सहाराश्री, हम तो कहेंगे वंशवाद जिंदाबाद: लालू, इश्क ने हमको निकम्मा कर दिया: कोहली, इंडिया मेरे लिए घर नहीं मार्केट है: पिच्चई, गुजरात मॉडल नहीं अडानी मॉडल बोलिए: हार्दिक पटेल। कहा जाता है कि बात निकलेगी तो दूर तलक जाएगी, कई शीर्षक इस बात की तरफ संकेत करते हैं। जैसे- गोडसे को भी भारतरत्न दिया जाए- साक्षी महाराज, सुपर बॉस को न कैसे कहता- मनमोहन, ये आदमी असली एजेंडा भूल गया है- स्वामी, है कोई माई का लाल जो मुझे निकाल दे- शत्रुघ्न सिन्हा जैसे शीर्षक कम शब्दों में बहुत कुछ कह जाते हैं।

डॉ. मुकेश कुमार व्यंग्य करने में बड़े माहिर हैं। वे कब, कहाँ, कैसे व्यंग्य कर देंगे किसी को नहीं पता। अरुण जेटली के साथ फ़ेक एनकाउंटर में कहते हैं- 'उनको तमाम बड़े रोग हैं जो किसी बड़े आदमी को होने चाहिए। मधुमेह और हृदय रोग ने तो उन्हें उसी तरह जकड़ रखा था जैसे कि बीजेपी को मोदीमेनिया ने और काँग्रेस को राहुलफोबिया ने।'

'मुझे काठ पुरुष बना दिया- राजनाथ' शीर्षक इंटरव्यू में गहरे व्यंग्य की बानगी देखिए- 'गृहमंत्री राजनाथ सिंह की पीड़ा को वही समझ सकता है जो ख़ुद राजनाथ की गति को प्राप्त हो जाए। वैसे काया प्रवेश की विधि अपनाकर भी उसे समझा जा सकता है लेकिन वो अपन को आती नहीं है। फिर भी एक पत्रकार होने के नाते और उन्हें लगातार कवर करते रहने की वजह से यो तो समझा ही जा सकता है कि वे किस मानसिक अवस्था से गुजर रहे होंगे। जिसने नरेंद्र मोदी को प्रधानमंत्री बनाने के लिए सबसे बैर मोल ले लिया हो और जो उनकी ताजपोशी में आगे-आगे रहा हो, अगर अब उसे कोई धेले के लिए भी न पूछे तो दर्द तो होगा ही। गृह मंत्रालय मिलने पर कुछ लोगों ने कहा था कि जैसे अटल के राज में आडवाणी नंबर दो थे वैसे राजनाथ भी हैं। उम्मीदें जगी थीं लेकिन यहाँ तो केवल नंबर एक है, नंबर दो तो कोई है ही नहीं।'

पुस्तक की भूमिका 'नवभारत टाइम्स.कॉम' के सम्पादक नीरेंद्र नागर ने लिखी है। डॉ. मुकेश के व्यंग्य पर उन्होंने बहुत सटीक टिप्पणी की है- 'मुकेश के फ़ेक इंटरव्यू में ख़ासियत यह है कि उनमें गहरा होमवर्क किया हुआ दिखता है। यह सच है कि ये इंटरव्यू समय और विषयविशेष पर लिखे गए हैं लेकिन सवाल-जवाब केवल उस समय और उस विषयविशेष पर सीमित नहीं रहते। यदि जवाब में कोई प्रतिप्रश्न निकल रहा है जो

पाँच साल पहले की किसी घटना से जुड़ा हो तो वह भी पूछा जाता है।'

भाषाई विविधता का निर्वाह लेखक ने पुस्तक में बखूबी किया है। जिस प्रांत, क्षेत्र के चरित्रों को लिया गया है, जवाब में वहाँ की भाषा साफ दिखाई देती है। ममता बैनर्जी बांग्ला मिश्रित हिन्दी मे जवाब देती हैं- 'गोस्सा क्यों नहीं आएगा? पूरी जवानी बोरबाद करके हम पावर में आया। सोचा बंगाल के लिए कुछ कोरेगा, मगर सब लोग मेरे पीछे लग गया है।' जसोदा बेन अपनी बात गुजराती में बताती हैं तो लालू यादव ठेठ भोजपुरी मिश्रित हिन्दी में कहते हैं- 'बिहार चलाने का मैनडेट मिला है त हम बिहार चलाएँगे न भाई।' भाषा का यह रूप पाठकों को आकर्षित करता है और पुस्तक को पठनीय बनाने में बड़ी भूमिका निभाता है। डॉ. मुकेश कुमार एक अनुभवी और सधे हुए पत्रकार हैं। टीवी के साथ ही प्रिंट मीडिया में भी इन्होंने काम किया है। इस बात की झलक पुस्तक में दिखाई देती है। मुकेश जी किसी विषय को सतही तौर पर न लेकर उसकी गहराई तक जाते हैं तब पाठकों को कुछ देने की कोशिश करते हैं। यह पुस्तक इसका प्रमाण है।

पुस्तक की भाषा सरल तथा साफ-सुथरी है। कहीं भी कठिन शब्द संप्रेषणीयता में बाधक नहीं बनते। वाक्य छोटे-छोटे हैं। लेखक का भाषा पर पूरा अधिकार है। इन्होंने भाषा को भावों के अनुसार बहुत ही चतुराई से प्रयोग किया है। पूरी पुस्तक में भाषा भावों को लेकर बेरोक-टोक तीर की तरह चलती है जो पाठक को अपनी तरफ आकर्षित करती है। पुस्तक की छपाई भी अच्छी तथा आकर्षक है। आकार, प्रिंटिंग, पेपर की दृष्टि से पुस्तक का लुक बहुत अच्छा दिख रहा है। आशा की जाती है कि पुस्तक पाठकों को भाएगी, पसंद आएगी लेकिन उन चरित्रों के दिलो-दिमाग को कचोटेगी जिनके माध्यम से फ़ेक एनकाउंटर की बातें कहलवाई गई हैं। पुस्तक की गुणवत्ता तथा पृष्ठों के हिसाब से पुस्तक की कीमत अधिक नहीं है।

❑❑❑

सी 7/169 यमुना विहार,
दिल्ली
मोबाइल 9716204602

पुस्तक चर्चा

पथ का चुनाव

महावीर रवांल्टा

पुस्तक: लघुकथा संग्रह
लेखक: कान्ता रॉय
प्रकाशक: ज्ञान गीता प्रकाशन

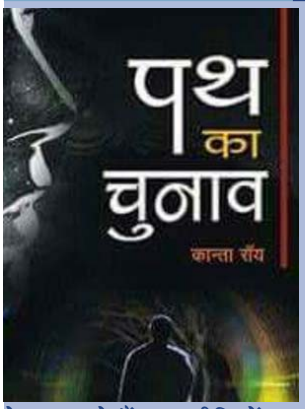

'पथ का चुनाव' लघुकथा के क्षेत्र में सक्रीय कान्ता रॉय का दूसरा लघुकथा संग्रह है। इससे पहले उनका 'घाट पर ठहराव कहाँ' लघुकथा संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इस लघुकथा-संग्रह में उनकी 134 लघुकथाएँ संग्रहित हैं।

कान्ता रॉय की लघुकथाओं में एक ओर मध्यमवर्गीय शहरी जीवन की आपाधापी, छटपटाहट व बेचैनी देखने को मिलती है तो दूसरी ओर गाँव के प्रति गहरे लगाव के साथ वहाँ की माटी की सौंधी गन्ध भी महसूस की जा सकती है। शहरी जीवन के संस्कारों को अपनाकर उसमें अपना जीवन खपा रहें अधिसंख्य लोग भी इन लघुकथाओं के पात्र बने हैं। राजनीति में अपने वर्चस्व को कायम रखने के लिए प्रलोभन व पुचकार से कार्यकर्ता को वश में कर उसके इस्तेमाल की बात हो अथवा धर्म या भावनाओं की आड़ लेकर अपना उल्लू सीधा करने की जुगत, सभी की आहट लघुकथाओं के माध्यम से सुनने को मिल जाती है। कान्ता रॉय की अनेक लघुकथाओं का केन्द्र परिवार है। वह कहीं संयुक्त है तो कहीं एकल। बुढ़ापे में अपने माँ-बाप की सम्पत्ति पर गिद्ध-दृष्टि रखने वाली संतान, उनके प्रति उपेक्षा-भाव, अपनी संतान की यातना व तिरस्कार सहने के बावजूद पड़ोसी के सामने सुखी, समर्थ व सम्पन्नता का दिखावा करने वाले पिता, अपने बेटे की प्रेमिका को उसके साथ कुछ समय लिव-इन-रिलेशन में रहकर उसे पूरी तरह समझ लेने के बाद विवाह की सलाह देने वाली माँ, ऐसे चेहरे हैं जो अपनी नई पीढ़ी के सुखद भविष्य के प्रति निश्छल सोच रखती है। निम्नवर्गीय मज़दूर, व्यापारी, नौकरीपेशा सभी वर्ग के लोग कान्ता रॉय की लघुकथाओं के पात्र बने हैं, इसलिए जीवन-यापन के लिए उनका संघर्ष स्वत: ही सामने आता है। सपरिवार रहने के लिए एक खोली न मिल पाने वाले मजदूर की पीड़ा, साधन के अभाव में हीनताबोध, मातृविहीन बेटी का दर्द, नशे की कुलत का शिकार युवा, पत्नी पर आश्रित बेरोजगार, पति की कुलत का पत्नी पर प्रभाव, शराबी पति से मुक्ति की छटपटाहट, अपनी असफलता का दोष माँ-बाप की गरीबी के सिर डालना, दहेज-प्रथा,गरीबी में जीकर आत्म संतुष्टि का भाव, आपसी बँटवारे के दर्द को सहता खेत, फ़िल्मों व धारावाहिकों में काम दिलाने के बहाने लड़कियों से ठगी व उनका शारीरिक शोषण करते लोग, बहादुरी की मिशाल कायम करते बच्चे जैसे अनेक लोग, इन लघुकथाओं के माध्यम से हमारे सामने आते हैं।

'पथ का चुनाव' की लघुकथाएँ मानवीय संवेदनाओं व मूल्यों के पक्ष में खड़ी होकर आज के दौर की सामाजिक विषमताओं के साथ उस विद्रुप सच को भी उद्घाटित करती है जिसकी चाहते हुए भी हम अनदेखी नहीं कर सकते। इन लघुकथाओं के माध्यम से कान्ता रॉय की अपनी एक विशिष्ट पहचान भी बनती है।

❑❑❑

संपर्क : 'सम्भावना' महरगाँव,
पत्रा.- मोल्टाड़ी, पुरोला, उत्तरकाशी-249185 (उत्तराखण्ड)
मोबाइल : 09411834007 / 08894215441
ईमेल : mravalta@rediffmail.com

21वीं शती का नारी-विमर्श

सुरजीत सिंह

पुस्तक: बुरी औरत हूँ मैं (कहानी संग्रह); लेखक: वंदना गुप्ता
प्रकाशक: ए पी एन पब्लिकेशन्स

वंदना गुप्ता किसी पहचान की मोहताज नहीं। पहले उनका उपन्यास 'अँधेरे का मध्य बिंदु' पढ़ा जिसमें उनकी प्रतिभा क्षमता से प्रभावित हुआ। अब इस वर्ष आया ए पी एन पब्लिकेशन से प्रकाशित कहानी संग्रह ''बुरी औरत हूँ मैं'' जिसके शीर्षक ने ही उत्सुकता जगा दी। अभी तक फुर्सत नहीं मिली थी पढ़ने की लेकिन आज करीब आधी रात गुज़र चुकी है वंदना के रचना संसार में विचरते हुए। ताज्जुब होता है भई इतना कुछ कैसे वहन कर लेती हैं। उधर पीड़ा से मित्रता इधर लाजवाब साहित्य रचना ! 'ब्याह', 'कर्तव्य पालन की सज़ा,' और 'उम्मीद', कहानियाँ अभी पढ़ीं। एक बात जो सबसे ज़्यादा प्रभावित कर रही है लेखिका के लेखन में वो यह कि भाषा की सरलता के साथ-साथ कथ्य में भी सरलता की प्रधानता देखी गई है। यह गुण मुन्शी प्रेमचन्द के कथा साहित्य में सर्वोपरि है। ठीक प्रेमचन्द की तरह थोड़ी-थोड़ी देर बाद नीति वाक्यों का प्रयोग पाठक के लिए प्रेरणा बनता है।

ये तो थी उस दिन की त्वरित प्रक्रिया लेकिन जैसे-जैसे कहानी संग्रह पढ़ता गया, रोमांचित होता गया। वंदना के भाव संसार में सामाजिक चेतना का सिर्फ अंश ही नहीं है बल्कि संसार में फैली विद्रूपताएँ बहुत संवेदनशीलता के साथ मुखर हुई हैं जो बताती हैं कैसे एक स्त्री दूसरी स्त्री के दर्द को महसूस करती है और उन्हें व्यर्थ के आडम्बरों में न पिरोते हुए कहानी तत्त्व को बरकरार रखते हुए प्रस्तुत करती है।

वंदना गुप्ता की कहानी माला ''बुरी औरत हूँ मैं'' से एक मोती ''एक ज़िन्दगी और तीन चेहरे'' चुना और पढ़ा।

मैं अक्सर सोचता हूँ कि क्यों कोई किसी लेखक को पढ़े, अपना कीमती समय बरबाद करे ? लेखक समाज का दर्पण है और हर पाठक उस दर्पण में अपना अक्स ढूँढ़ता है। शायद मैं भी उसी मानसिकता का हिस्सा हूँ।

इस कहानी में वन्दना ने बहुत खूबसूरती से मोती पिरो कर कहानी को विचार प्रधान बना दिया है। कहानी के नायक शेखर की मनोदशा को छील कर रख दिया। उधर तीनों स्त्री पात्रों को बहुत ही संयमित ढंग से प्रस्तुत किया है। पुरुष मानसिकता स्त्री के प्रति कुत्सित ही रही है जबकि सुधि, सुमन और सुरभी किसी मजबूरीवश न हो कर बहुत ही स्पष्ट रूप से मार्गदर्शक रहीं हैं और अन्ततः शेखर की अक्ल भी ठिकाने आ गई है।

वंदना गुप्ता के कथा संसार की यह विशेषता है कि वह भटकी मानसिकता वाले पात्रों को सही ठिकाने पर ले आती है। यानी सुधारवादी प्रवृति है उसकी।

कहानी के शुरू में नायक जब सुधि से टकराता है तो सुधि की छवि उसे आतंकित करती रहती है, यहाँ तक कि आपनी पत्नि सुमन से समागम के वक्त भी वह ख़यालों मे सुधि के साथ ही रमण करता है। बेशक सुधि उसका पहला प्यार है पर कहीं न कहीं उसके मन में वासना प्रबल है। लेकिन अचानक जब उसे सुरभि मिल जाती है तो वह अपने पहले प्यार को भूल कर सुरभि के साथ मदहोश हो जाता है। यह पुरुष मानसिकता है जिसे संबंधों की आड़ में कहीं न कहीं सैक्स की भूख तड़पाती है। यदि पार्टनर कभी सहमत हो जाए तो वह सारे आदर्श ताक पर रख कर उसे झपटने के लिए तैयार हो जाता है। लेकिन वंदना ऐसा नहीं होने देती वह आपने लेखन में नैतिकता का पल्ला पकड़े रहती है। कमाल की बात यह कि सभी स्त्री पात्र अपनी नैतिक वर्जनाओं से जकड़ें हैं और वह कहीं फिसले नहीं। यही एक सफल कथाकार का हासिल है।

कहानी का नायक कहीं अपने एक संबंधों से सन्तुष्ट नहीं है। वह कभी पत्नी सुमन में सुधि को ढूँढ़ता है तो कभी सुरभी को। वह पत्नि में सैक्स के समय उन्मुक्त व्यवहार को ढूँढ़ता है, यानी एक वितृष्णा है जो संबंधों में शारीरिक व मानसिक सुख की पूर्णता की तलाश में भटकती है।

पात्रों के मुख से नीति वाक्यों का उद्घोष वंदना के लेखन की विलक्षणता है। जैसे:- ''प्रेम जीवन में हर इन्सान एक बार ही करता है उसके बाद तो हर छवि में उसका अक्स ही ढूँढ़ा करता है।''

''बुरी औरत हूँ मैं'' संग्रह की श्रृंखला की एक और काबिल-ए-ज़िक्र कहानी ''वो होती तो...'' स्त्री मन के संत्रास और रिश्तों

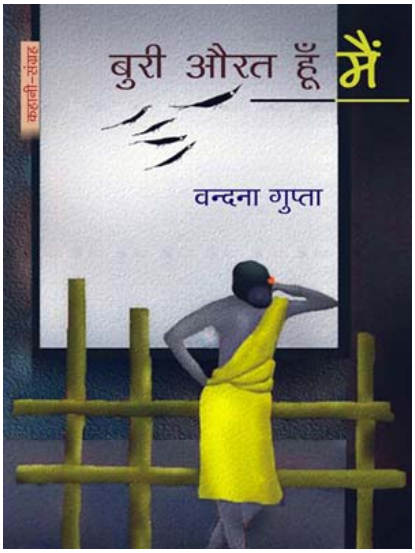

के टूटते नाज़ुक तन्तुओं की कहानी है। लेखिका ने कहानी के शुरू में ही कह दिया कि स्त्री शब्द ही काफी है ख़ुद को व्यक्त करने को, पीड़ा और सहनशीलता की मिसाल सामने आ जाती है। स्त्री जैसे अपने पूर्वाग्रहों से ग्रसित है जीवन भर गुलाम मानसिकता ढोने को। मायके से ससुराल में पदार्पण करना और उनकी अपेक्षाओं के अनुकूल पूरा उतरने की जिजीविषा को ढोना और मर-मर कर जीना उसके लिए जीवन एक अभिशाप बन गया है।

कहानी की नायिका का विधुर से शादी को स्वीकार करना फिर एक समर्पिता बन कर परिवारिक गुलामी को ढोना, दूसरी पत्नी होने की दुरूहता को अपने अन्दर समेटे रखना, यह भारतीय नारी के त्याग को दर्शाता है। वह यहाँ तक अपने आपको सिद्ध करना चाहती है कि सौतेले पुत्र को भी कोई जुम्बिश न हो। उसका लालन पालन भी पूरी निष्ठा के साथ करती है लेकिन फिर भी उसे इसका खामियाजा पारिवारिक तिरस्कार के रूप में झेलना पड़ता है। नारी है ना सब कुछ सहन करने के लिए बनी है। यहाँ लेखिका है कि कहीं रंच मात्र भी नारी के आदर्श रूप पर आँच नहीं आने देती। सौतेले बेटे के भरण पोषण में कोई कसर नहीं छोड़ती, यहाँ तक कि वह अपनी बेटी तक की भी परवाह नहीं करती। उसके मन में कुण्ठा मात्र इतनी है कि कोई इसे सौतेली माँ होने का ताहना न दे दे। वंदना ने यहाँ बहुत ही खूबसूरती से आदर्शवादिता की मिसाल कायम रखते हुए कमाल की लाईंने पेश कीं ''जब पति को अपना लिया, उसे चाह लिया तो उसकी हर चीज़ मेरी ही तो हुई फिर कैसा परायापन''। लेकिन हद्द तो तब हुई जब उसकी इस निष्ठा को पारिवारिक सदस्यों ने पति के रिझाने का ढकोसला बता दिया। लेकिन वंदना अपने सन्त्रस्त पात्रों को टूटने नहीं देती।

नायिका बिना किसी भेदभाव व परवाह के सौतेले पुत्र को शादी तक पहुँचा देती है।परन्तु पुत्र ने उसे सगी माँ स्वीकार नहीं किया और सौतेली माँ ने सगी माँ साबित करने में इन्कार नहीं किया। वह बिना किसी गुनाह के गुनाहगार आरोपित होती रही। हद्द तो तब हुई जब उसकी अपनी बेटी ही घर के माहौल के कारण उसे दूसरी माँ समझने लगी। सो नायिका लगातार दूसरी माँ होने का दंश झेलती चली गई। मन ही मन उसे एहसास भी है कि:- ''जब एक ही झूठ को सौ लोग बोलें तो सुनने वाले को वो ही सत्य लगने लगता है।''

उसे संस्कारों की बेड़ियों ने जकड़ रखा है। इसी कारण वह अभिशप्त जीवन जीने को विवश है। ''उसे अपनी आवाज़ सुने ही लगता है बरसों हो गए।''

वंदना की खासियत है कि उसके पात्र टूट बेशक जाएँ पर आदर्श का पल्ला नहीं छोड़ते।

देखने में कहानी का कथानक आम जीवन से उठाई एक घटना है लेकिन ''दूसरी'' होने की एक कुण्ठा को लगातार झेलती चली जा रही है कि उस पर कोई सौतेली का ठप्पा न लगा दे। यह नायिका की संबंधों को ईमानदारी से जीने की उत्कण्ठा है।

वंदना गुप्ता के कथा सागर से एक कहानी 'खेल...आख़िर कब तक ?' पढ़ते हुए लेखिका की शाब्दिक विद्वता और परिपक्व कथा कौशल का बोध हुआ। लेखिका ने कथा कहते समय कमाल की वाक्य संरचना की है उस पर तुर्रा यह कि बौद्धिकता कहानी पर बोझिल न हो कर कहानी को सरल व सुगम बना रही है। कहानी का विषय बेशक आम सी घटना है जो अक्सर आम परिवारों में व्याप्त होती है पर कहानीकार की कलम घटना को सफलता पूर्वक नया आयाम देती है। कहानी के आरम्भ में ही शब्दों की जादूगरी यूँ चलने लगती है:-''मन की उद्वेलना हमेशा शब्दों की मोहताज नहीं होती। होती है कोई-कोई ऐसी उद्वेलना जिसके बीज मिट्टी में डले तो होते हैं मगर अंकुरित होने के मौसम शायद बने ही नहीं और गुज़र जाते हैं जाने कितने सावन और बसन्त, चिता की राख तक पहुँचने तक नहीं खुलती ज़ुबाँ।'' ''स्त्री किसी भी युग की क्यों न हो, कितनी भी सशक्त क्यों न हो, हो ही जाती है शिकार। शिकारियों के चेहरे कब हुआ करते हैं।'' बात बेशक अस्पष्ट है पर परतें खुलनी शुरू हो जातीं हैं कि लेखिका कुछ गम्भीर बात करने जा रही है। ''मैं तो बर्बाद हो गई मगर अब करुणा उसका शिकार न बने दी कुछ ऐसा करिए।'' यहाँ शिकार की शिकारी के प्रति एक बेबसी है, एक लाचारी है अपने वर्चस्व को सँभालने की, ख़ुद को शिकारी का ग्रास बनने से बचाने की। इस संदर्भ में मुझे पंजाबी के प्रसिद्ध कथाकार गुरपाल लिट्ट का उपन्यास अपने-अपने जनमेजे स्मरण हो आया और लगता है कहानी इसी पैटर्न पर लिखी गई है। उपन्यास की कहानी के अनुसार भी एक भेड़िया एक मासूम परिवार में आ घुसता है और एक-एक करके मासूमों को अपना शिकार बनाता चला जाता है। अन्ततः एक मासूम सामाजिक बेड़ियाँ को तोड़ कर भेड़िए को अन्जाम तक पहुँचा देती है। वंदना ने भी ऐसा ही कुछ किया है:-''सुनते ही आरती की छठी इंद्रिय सचेत हो उठी, एक तिलमिलाहट ने उसके अन्तस को झकझोर दिया'' ''अपनी बनाई हद की बेड़ियाँ तोड़ने को वो मजबूर हो उठी आख़िर उसकी सगी भाँजी की जिन्दगी का सवाल था। आज हर ताला टूटने को व्यग्र हो उठा, ख़ुद को दी कसम से ख़ुद को मुक्त करने का वक्त था।'' जैसा कि मैंने लिट्ट के विषय मे कहा इसी तरह वंदना ने भी वैसा ही किया:-''मगर उस एक हरकत ने कहीं न कहीं मुझे समय से पहले थोड़ा-सा बड़ा कर दिया था।'' कहीं न कहीं वंदना की इस कहानी का कथा-सार पंजाबी कथाकार गुरपाल लिट्ट की कहानी के आस-पास है।

संग्रह की अगली कहानी 'ऐसा आख़िर कब तक ?' अपने शीर्षक के अनुरूप अन्त में एक प्रश्न चिह्न पाठक के मन पर छोड़ चलती है कि क्या निरीह युवा मन इसी तरह हमारी संकीर्ण मानसिकता की भेंट चढ़ते

रहेंगे ? यूँ तो हर किसी के मन में जीवन के शुरू से लेकर अन्त तक एक ऐसा पात्र बसा रहता कि जिसे वह प्यार तो करता रहा पर उसे पा न सका। बस अब उसकी आराधना ही कर सकता है। मौजूदा कहानी भी इसी भँवर के द्वंद्व से जूझ रही है। दीप्ति और आकाश का मिलना और आकाश की तरंगों पर दीप्ति का तरंगायित होना युवा मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। दोनों युवाओं के जिस्मों में इतना चुम्बकीय आकर्षण होता है कि ये लाभ या हानि न देखते हुए चिड़िया की आँख की तरह अपने मन्तव्य पर निशाना साधते हैं। दुर्भाग्यवश यहाँ दोनों की जातियाँ आड़े आ जाती हैं और ऐकीकरण नहीं होता और विवाह किसी दूसरे से हो जाता है। वंदना की यह खासियत है कि दोनों के बीच तीसरे को वह विलेन नहीं बनने देती बल्कि दीप्ति एक आदर्श पात्र बन कर उभरती है जो कहानी के अन्त तक सार्थकता और नैतिकता का पल्ला पकड़े रहती है। वंदना का यह एक प्रेरक पहलू है। आकाश और उसकी हो चुकी पत्नी रश्मि एक बेमेल विवाह है। बेशक वे एक जाति के हैं लेकिन उन में आर्थिक असमानता है। यही कारण है कि आकाश में हीन भावना है और रश्मि अपने पूर्वाग्रहों से पीड़ित है। वह अपनी अभिजात्य मानसिकता से बाहर आने को तैयार नहीं है, स्वाविक रूप से दुर्व्यसनों में उलझ जाती है। जिसकी परिणति परस्पर कटुता में होती है। फलत: दोनों संबंध विच्छेद के कगार पर जा पहुँचते है। कमाल की बात तो यह है कि वंदना ने दीप्ति को एक निष्पक्ष पात्र के रूप में सृजित किया है। दीप्ति अवसरानुकूल परिस्थिति का लाभ उठाने की फिराक में नहीं है बल्कि वह एक सात्विक मित्र धर्म का निर्वाह बिना किसी लाग लपेट के करने में निमज्जित है और निराश हताश आकाश को सँभालती है। अन्तत: आकाश के माता-पिता को भी इस बात का अहसास होता है कि युग के बदलते संदर्भों में जाति कोई मायने नहीं रखती। वंदना की हर कहानी में एक चेतन लेखक की तरह प्रेरक प्रसंग होता है जो समाज के लिए एक प्रश्न खड़ा कर जाता है कि 'ऐसा आख़िर कब तक ?'

'नाम में क्या रखा है' वंदना गुप्ता के कहानी संग्रह की क्या मेरे विचार से हिन्दी साहित्य की बेहतरीन कहानियों की श्रृंखला में अच्छे से फिट होती है। क्या कमाल की संवाद रचना ! दो त्रस्त मानसिकताओं का परस्पर भावनात्मक खिचाव पाठक के लिए सस्पैंस बना रहता है। एक लेखिका और संपादक के पनपते रिश्ते। लेकिन लेखिका निशि सजग है कि 'शब्दों के भीतर और शब्दों से परे जो शब्द होते हैं वो ज़्यादा सुनाई देते हैं' कहानी का नायक प्रणय एक अलग किस्म की कुण्ठा से ग्रस्त है जिसे निशि समझती है। 'क्योंकि मैं जानती थी कि ये इंसान बेहद जहीन है लेकिन वक्त की मार से बेचैन हो मर्यादा की हर सीमा तोड़ना चाहता है।' निशि न तो आगे बढ़ती है न पीछे ही हटना चाहती है। 'इधर मेरे मन के पनघट पर बासुरी की धुन धीमी-धीमी बज रही थी।' वंदना में एक संयम है अपने पात्रों को भटकने से सँभालने का जैसे निशि। वह रेत की दीवार को पुरुष के पक्ष में गिरने नहीं देती और ऐन वक्त पर सँभल जाती है। 'मेरे अन्दर की स्त्री बेशक सहानुभूति रखती थी उससे लेकिन इश्क विश्क प्रेम-व्रेम के चक्करों से कोसों दूर थी।' द्वंद्व तो इस बात का है कि 'मैं उसे खोना भी नहीं चाहती थी और पाना भी नहीं चाहती थी।' एक समर्पिता है स्त्री, चाहती तो नायक को छोड़ जाती मगर नायक ने छोड़ा तो नायिका पश्चाताप की आग में जलने लगी। यहाँ पुरुष की अवसरवादी वृति और नारी का पूर्ण समर्पण। 'पुरुष कभी दैहिक भिन्नता से ऊपर नहीं उठ सकता।' यह पुरुष समाज पर कटाक्ष है। कहानी पढ़ने पर मनोविकृति की परतें ख़ुलती हैं। अन्तत: नायक हताश अवस्था में अपनी इति को पहुँचता है और नायिका के हाथों में पश्चाताप का गिजगिजा पसीना।

कहानी 'छोटी-सी भूल या गुनाह' एक नए विषय को लेकर लिखी गई प्रयोगात्मक कहानी है। इस कहानी के जरिए से लेखिका ने स्पर्म डोनेट के द्वारा सन्तान उत्पत्ति की बात कही है जो कि लेखिका ने अपनी बात एक कहानी के माध्यम से कही है। 'अंकल मेरे डैड नहीं हैं, मुझे मेरी माम ने पाला है। मेरे माम डैड का तलाक हो गया था और मेरी माम दोबारा शादी नहीं करना चाहती थी इसलिए उन्होंने अकेले माँ बनने का फैसला लिया और स्पर्म सैंटर से आर्टीफीशियल तरीके से मुझे जन्म दिया।'

इसी श्रृंखला की कहानी जो वंदना गुप्ता के इस संग्रह का स्तम्भ है - शीर्षक कहानी 'बुरी औरत हूँ मैं' यह कहानी उन औरतों के लिए प्रेरणा और चेतावनी दोनों हैं जो जवानी के मद में अपने मार्ग से भटक गईं हैं। ऐसी औरतों को जवानी की रंगीनियों के साथ अगर जीवन का आगाज़ मधुर लगता है तो उसका अन्जाम बहुत भयानक है। संवाद कहानी को परत दर परत रोचक बनाए चलते हैं और पाठक गम्भीर होकर साथ जुड़ा रहता है। कहानी का नायक एक आकर्षक अनजान कन्या को दिल दे बैठता जो बाद मे एक काल गर्ल निकलती है। वह भी किन्हीं पारिवारिक विवशताओं व हाई प्रोफाईल जीवन जीने की इच्छा के कारण बनी। पहले शौक बाद में अय्याशी और अन्त में दरिद्रता। कहानी का नायक इस हसीना को दिल दे बैठता है और उसे अपनी बनाना चाहता है। वह इससे सच्चा प्यार करना चाहता है पर शमीना के लिए सच्चे प्यार मायने सिर्फ पैसा है। एक दिन शमीना नरेन को होटल में डेट पर मिल जाती है और अपना सर्वस्व पेश करती है। 'उसने कमरे में आते ही अपने कपड़ों के बटन खोलने शुरू किए तो मैंने उसे रोका।' वस्तुत: नरेन उसके साथ शादी करके उसे सन्मार्ग पर लाना चाहता है। दोनों की शादी हो भी जाती है पर शमीना उसके साथ ख़ुद को एडजस्ट नहीं कर पाती। उसे पैसा चाहिए और सैक्सुअल सैटीसफैक्शन। 'कहाँ से और कैसे करोगे मेरी इच्छाएँ पूरी जब बिस्तर पर तुम ढेर हो जाते हो और मैं अधूरी रह जाती हूँ।' तुम न तो शरीर की ज़रूरत पूरी कर पाते हो और न ही पैसों की।' अन्तत: शमीना नरेन को मझधार में छोड़ कर किनारा कर लेती है और फिर उसी गलीज ज़िन्दगी का रास्ता अख्तियार कर लेती जिसमें से नरेन ने उसे निकालने की कोशिश की थी। जीवन के संध्या काल में जो ऐसी औरतों का हश्र होना है शमीना का भी वही हुआ वह ऐड्स से ग्रस्त हो गई और अपने अन्त को प्राप्त हुई। कहानीकार की बड़ी बात यह है कि वंदना अपनी हर कहानी में पाठक के लिए कोई न कोई स्थापित करने के लिए आदर्श तैयार रखती है। शमीना ने नरेन को पैसों के बदले अपना शरीर देना चाहा पर नरेन ने एक आदर्श पात्र

की तरह ऐसा नहीं किया। फिर शमीना उसे छोड़ गई वह टूट गया लेकिन उसके बदचलन चरित्र के बावजूद भी नरेन ने उससे मुँह नहीं मोड़ा और विक्षिप्त हालत में भी उसे सँभाला। यह वंदना का आदर्शोन्मुख आदर्श है।

वंदना गुप्ता औरतों के अधिकारों की पहरेदार है। जहाँ कहीं भी कोई निरीह स्त्री मर्द प्रधान समाज के ज़ुल्म का शिकार होती है वंदना गुप्ता वहाँ अपनी लेखनी के माध्यम से ढाल बन कर लट्ठ लेकर खड़ी नज़र आएगी। 'बुरी औरत हूँ मैं' संग्रह की कहानी 'कातिल कौन ?' स्त्रियों के संतप्त जीवन का जीवन्त वर्णन है। वंदना देश की न्याय व्यवस्था पर कटाक्ष करते हुए कहती है:-''क्या आपके न्याय से दुनिया की तमाम औरतों का जीवन बदल गया है ?'' अगर ऐसा होता तो ''अदालतों की ज़रूरत नहीं रहती।'' कहानी महानगरीय जीवन की मानसिकता के पाज उघाड़ती है। सर्व साधन सम्पन्न होने के बावजूद भी शहरी लोग कितने छोटे हैं कि वे अपनी बेटी के लिए संकट में अवलम्ब नहीं बन सकते। बीस वर्षीय शालिनी का छोटी उमर में ही साधन सम्पन्न परिवार के चिराग सोमेश से ब्याह करके पिता व भाई तो उऋण हो गए। सोमेश नालायक, आवारा, अय्याश व रंडीबाज जिसने दुर्व्यसनों में घर की कमाई तो बर्बाद कर दी और साथ ही बेटे की चाह में शालिनी के पल्ले बाँध दी चार-चार बच्चों की कतार। घर में शालिनी की कोई वुक्कत नहीं यहाँ तक कि वह अपने बच्चों के पालन तक के निर्णय से वंचित कर दी गई। माँ और बेटे ने मिल कर उस पर अमानवीय ज़ुल्म ढाए। ससुराल में जब औरत पर ज़ुल्म होते हैं तो वह अपनी पीड़ा की चीख मायके तक आसानी से नहीं जाने देती पर जब ज़ुल्म की इति हो जाती है तो वह स्वाभाविक रूप से मायके का ही सहारा लेगी मगर इस कहानी में उच्च पदों पर आसीन उसके पिता व भाइयों ने यह कह कर किनारा कर लिया कि शालिनी का ही कसूर होगा। अन्ततः जब कोई सुनने वाला न रहा तो शालिनी ने अपनी करुण व्यथा डायरी के पन्नों को सुनानी ही वाजिब समझी। जो भी अत्याचार होता वह डायरी में लिख लेती और अन्ततः वह अत्याचारों से लड़ती हुई वीरगति को प्राप्त हुई। वंदना दोषी पुरुष प्रधान समाज पर कुठाराघात करने का कोई अवसर हाथ से छूटने नहीं देती चाहे वह मायका पक्ष हो या ससुराल। मौजूदा कहानी में स्त्री की दशा के लिए ससुराल तो ज़िम्मेवार है ही लेकिन शालिनी के उच्च पदस्थ पिता व भाई अधिक कसूरवार हैं; जिन्होंने उसे जीवन की लड़ाई लड़ने में सहयोग नहीं दिया बल्कि अपनी ज़िम्मेवारी से पीठ मोड़ ली। कुल मिला कर कहानी बहुत रोचक और संवेदनशील है। पाठक को महसूस होगा कि अरे इस कहानी में तो कहीं न कहीं मैं भी हूँ या मेरा पड़ौसी रिश्तेदार। क्योंकि संवेदना विहीन लोगों की समाज में कमी नहीं जो अपनी उन पत्नियों को जिनके साथ उनका जिस्मानी रिश्ता रहा है या भावावेगों के क्षणों में उनकी संगिनी रही हो या वह पिता व भाई जिन्होंने उसे लाडों से पाला हो,उसे प्रताड़ित करें तो यह हमारे सभ्य कहलाने वाले समाज पर कलंक है।

'कितने नादाँ थे हम !!!' का यह शीर्षक ही किसी पश्चाताप का परिचायक है। कहानी की शुरूआत में जब रवि और निशा मन्दिर के प्राँगण में टकराते हैं तो पहली नज़र में पाठक को यों लगता है कि जैसे कहानी कोई फ़िल्मी मोड़ ले लेगी। लेकिन वंदना की कलम बहुत ज़हीन है। उसने रवि और निशा के पावन संबंधों की टकराहट मन्दिर के पावन प्राँगण में ही दर्शाई है; जो बहुत अर्थपूर्ण है। कहानी जिस गति से मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़ती है उसी गति से नीचे की ओर आती है और फिर से अपनी मूल अवस्था में आती है। इस तरह आरोह अवरोह के सिलसिलों के साथ कहानी का सुखद अन्त होता है। कहानी रवि व निशा के अहंम व अन्तर विरोधों के ऊहा पोहों की संरचना है। दोनों शिक्षित व उच्च ओहदों पर आसीन हैं जहाँ पैसे की कमी नहीं है। दोनों महत्त्वाकाँक्षी हो गए, एक दूसरे के वर्चस्व को भूल गए। एक दूसरे के लिए दोनों के पास वक्त नहीं है। वंदना लिखती है:-''शायद सफलता के एक मुकाम पर आकर उसे बनाए रखना और भी मुश्किल होता है और उसकी कीमत हमें चुकानी पड़ती है।'' इस तरह रवि व निशा के खिचाव की नौबत तलाक तक पहुँच गई। कुछ समय बाद दोनों को अपनी-अपनी ग़लती का एहसास होता है और एकान्त दोनों को कचोटने लगता है। एक दिन अचानक दोनों संयोग से काफी हाऊस में मिलते हैं; जहाँ मिल कर वे टूट पड़ते हैं। वंदना फिर दोनों को उसी मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़ा देती है; जहाँ पहुँच कर दोनों महसूस करते हैं कि ''कितने नादाँ थे हम !!!'' कहानी की संवाद रचना बहुत उच्च पाए की है। कहानी पाठक के लिए एक सशक्त संदेश छोड़ती है कि महज स्वावलम्बी होना ही सब कुछ नहीं, समर्पण के लिए अहम् का विसर्जन बहुत ज़रूरी है तभी गृहस्थी की गाड़ी सही तरीके से पटरी पर चलती है। टूटे हुए रिश्ते को पुनः जोड़ कर कहानी का सुखद अन्त करना जहाँ पाठक को अच्छा लगेगा वहीं ऐसा करना लेखक की प्रौढ़ लेखन शैली का भी परिचायक है।

'आत्महत्या:कितने कारण' यह कहानी चार दीवारी में घिरी एक स्त्री की एकाकी मानसिकता को लेखिका ने बड़ी खूबसूरती से रेखाँकित किया है। अपने अकेलेपन से जूझने के लिए एक गृहणी चैटिंग का सहारा लेकर एक अपरिचित व्यक्ति से इन्टरनैट पर भावात्मक रूप से उलझ जाती है। इस उलझन से पूर्व वह अपने आवेश पर नियन्त्रण न रख सकी और उस दलदल में गहरे तक धँसती ही चली गई। यद्यपि उसे मालूम होना चाहिए कि ये रिश्ते स्थाई नहीं होते। पर वह भावावेश में आकर अपने परिवार को भी दाँव पर लगाने को तैयार हो गई। अन्ततः उसे उसके प्रेमी ने ही फटकार दिया तब कहीं जाकर उसे अपने परिवार व पति का ध्यान हो आया मगर उस समय वह घर और घाट दोनों से वंचित हो गई। ऐसे में उसका अवसाद ग्रस्त होना स्वभाभाविक था क्योंकि उसके लिए सभी रास्ते बन्द हो चुके थे। उधर उसके पति ने भी फौजी मानसिकता का पल्ला नहीं छोड़ा और अन्ततः उसे पत्नी से हाथ धोना पड़ा और बाद में उसके हाथ पश्चाताप ही लगा। इस कहानी के माध्यम से आपने एक बहुत स्पष्ट संदेश दिया है कि पारिवारिक संबंधों में अविश्वास की दीमक जब लग जाती है तो वह परिवार को तबाही के कगार तक पहुँचा देती है। बात बहुत छोटी है पर आपने उसे

बड़ा आयाम दिया है। यही आपके लेखन की विशेषता है कि हमारे रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के मुद्दों को आप बड़े आयाम के रूप में प्रस्तुत करतीं हैं।

'अमर प्रेम' वंदना की एक शानदार कहानी है। इस कहानी को हिन्दी साहित्य की किन्हीं भी नामवर कहानियों के समकक्ष रखा जा सकता है। इस कहानी में वंदना की बौद्धकता साफ झलकती है। कहानी बहुत ही खूबसूरती से आलौकिक प्रेम को पारिभाषित करती है। यह भी स्पष्ट है कि कहानी सामान्य पाठक जो रूप लावण्य को लोलुप हो उसके गले नहीं उतरेगी। वंदना ने स्त्री-पुरुष के भावात्मक व आत्मिक प्रेम संबंधों को बहुत ही बारीकी से बुना है। कहानी तो महज इतनी सी है कि समीर और उसकी पत्नी अर्चना सुखी जीवन यापन कर रहे हैं, उनके दरम्यान तीसरा अजय आकर भावनात्मक रूप से अर्चना के दिल में घर बना लेता है; जिसको घर से बाहर करना अर्चना के लिए दूभर हो जाता है। बस इसी प्लाट के ईर्दगिर्द कहानी घूमती है। बड़ी बात यह कि इस संबंध की वास्तविकता को समझ कर कि यह तो राधा-कृष्ण सा रिश्ता है, समीर भी स्वीकृति की मोहर लगा देता है। क्योंकि समीर को इस बात का पक्का यकीन हो जाता है कि संबंध दैहिक न होकर दैविक है। अब आलोचना की दृष्टि से यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या दैहिक सौंदर्य के आकर्षण के बगैर दैविक प्रेम के लिए आकर्षण सम्भव है ? इसका उत्तर वंदना बहुत सहजता से प्रस्तुत करती है, ''इसलिए चाहिए होता है एक सामान्तर रिश्ता देह के साथ नेह का भी चाहिए होता है। वन्दना कहती है कि, ''दैहिक रिश्ते जीवन यापन का मात्र साधन होते हैं और आत्मिक रिश्ते ज़िन्दगी का दर्शन, अध्ययन, मनन और चिन्तन होते हैं।'' अर्चना का अजय से मिलना महज एक इत्तिफाक है। अर्चना कवयित्री है तो अजय चित्रकार। बस दोनों भावात्मक रूप से ऐसे जुड़े कि एक दूसरे के दिल में स्थाई घर बना लिया। अर्चना इस बात के लिए भी चेतन है कि ऐसा करने से उसका बसा बसाया घर बर्बाद भी हो सकता है, पर वह भावना में इतना गहरे उतर गई कि उसे उबरना मुश्किल ही नहीं नमुमकिन हो गया वह सोचती है कि ''उमर के इस मोड़ पर ग़लत रुख सिवाय बर्बादी के कुछ न देगा। ये महज कोरी भावुकता है उसकी।'' अर्चना की स्थिति यहाँ साँप और छछूँदर की सी हो गई है जिसे न छोड़ते ही बनता है न पकड़ा ही जाता है। वन्दना की इस कहानी से उसकी अपनी कहानी ''आत्महत्या कितने कारण'' से कुछ समानता बैठती है, दोनों प्लाट एक जैसा लगता है पर राहें जुदा-जुदा हैं। वहाँ हताशा की इति आत्महत्या के रूप में होती है मगर यहाँ समीर की समझदारी अपने परिवार को बचा लेती है। कहानी पठनीय है। पढ़कर ही पता लगता है कि लेखिका की बौद्धकता कितनी सशक्त है। कहानी की संवाद रचना बहुत ही रोचक है। कहानीकार कहानी के प्रवाह के साथ-साथ अपने पाठक को नैतिकता का पाठ आदि से अन्त तक पढ़ाती चली जाती है। यह कहानी पढ़कर मुझे यूँ महसूस हुआ कि इस कहानी पर काफी कुछ लिखा जा सकता है पर विस्तार से लिखना पाठक की रुचि को छीन लेगा, फिर भी बड़े लेखकों या विश्वविद्यालय के बुद्धिजीवियों को अवश्य इस रचना का नोटिस लेना चाहिए क्योंकि कहानी कुछ तो कहती ही है.....!

वंदना गुप्ता के कहानी संग्रह ''बुरी औरत हूँ मैं'' की हर कहानी अपने आप में बेजोड़ है। हर कहानी एक सन्देश लिए है पर यह सन्देश ऊपरी नज़र से दिखाई न देगा। कहानी की गहराई में उतर कर कहानी के पात्रों की मानसिक अवस्था तक जीने से उसका आभास होगा। 'एक उदास दिन' कहानी भी ऐसी ही मानसिकता को लेकर लिखी कहानी है। एक गृहणी जो अपने बियाबान में अकेली डोलती है, के अन्दर की घुटन व बेचैनी को व्यक्त करने का जरिया क्या हो ? यह घरेलू स्त्रियों के अकेलेपन व मानसिक त्रास की कहानी है। वह अपने ही दायरों में सिमट कर रह जाती हैं। ''क्योंकि घरेलू स्त्रियों को नहीं मिला करते पंख उड़ने वाले,एक नया आस्माँ बनाने वाले आखिर जाएँ तो जाएँ कहाँ ?'' वन्दना बड़ी खूबसूरती से बयाँ करती है, ''वैसे आजकल चिड़ियों की चहचहाट सुनने, उड़ते परिंदों को आकाश में देखने के लिए आकाश का होना भी तो ज़रूरी है न मगर कंक्रीट के जंगलों के न आकाश होते हैं न ज़मीन'' कंक्रीट की चार दीवारी में कैद वह महसूस करती है कि ''जैसे कोई मुझे नहीं समझता या किसी को मेरी परवाह ही नहीं तो मैं क्यों सबकी परवाह करूँ'' एक बेबस सी खीझ है जिसे वह कहीं व्यक्त करना चाहती है। ''काश कोई एक चेहरा होता जिससे दिल की सारी भड़ास निकाल सकती'' एक बगावत है सड़ियल सी ज़िन्दगी के विरुद्ध कि ''चली जाऊँ सब छोड़ छाड़ कर कहीं ख़ुद से भी दूर मगर फिर लगता है कहाँ जाऊँ अकेली .....औरत हूँ कहाँ सुरक्षित हूँ ?'' ये पंक्तियाँ स्त्री अस्मिता की स्थाई गुलामी को बयाँ करने के लिए पर्याप्त हैं यानी उसके लिए कहीं जगह नहीं कि वह सुकूँ से जी सके।

'एक नई सुबह' कहानी का सुखान्त बेशक फ़िल्मी ड्रामा की तरह होता है पर इस सारी प्रक्रिया से गुज़रते हुए कहानी के नायक ने ऐसी दुरूह ज़िन्दगी को जीया है जिस से उसकी रचनात्मकता में निखार आया है। बड़ी बात यह है कि माधव एक मेधावी लेखक है जिसे न तो प्रसिद्धि और न ही पैसे या शोहरत से कोई सरोकार है। जीवन की दुष्वारियों से गुज़रते हुए उस ने घर परिवार और अपना प्यार खोया है। जब वह भिखारी है तो भी वह अपनी भीतरी पहचान से विलग नहीं होता। अपने लेखन से जो भी कमाई होगी उसे वह भिखारियों के कल्याण के लिए खर्च करने को उत्सुक है। यह इसकी मानसिक अमीरी है। इसी के समकक्ष कहानी का एक अन्य पात्र हर्षमोहन अपने ही कारणों से साधन सम्पन्न होते हुए भी ख़ुद को विकलाँग समझता है पर माधव की विपन्नता में भी फिराक दिली हर्षमोहन की आँखे खोल देती है और अन्त में नायक को नायिका से मिलवा कर हर्षमोहन को अप्रत्याशित ख़ुशी मिलती है। इस प्रकार कहानी सुखान्त को प्राप्त होती है।

वंदना गुप्ता का कहानी संग्रह 'बुरी औरत हूँ मैं' की सारी कहानियाँ पढ़ने में अपनी दैनिक दिनचर्या के साथ-साथ मुझे करीब दो महीने का समय लगा। एक-एक करके मैंने प्रत्येक कहानी पर अपनी प्रतिक्रिया लिखी। कहानियों पर विस्तृत प्रतिक्रिया बनती थी पर मैंने जानबूझ कर संक्षिप्त रखा क्योंकि इस से कहानी पढ़ने का और उस की गहराई में उतरने की

जिज्ञासा पर असर पढ़ता है। आज आख़िरी दो कहानियाँ 'वो बाईस दिन' और 'स्लीप मोड' पढ़ कर हटा हूँ। इन कहानियों पर तो मैं कोई प्रतिक्रिया न दूँगा। 'वो बाईस दिन' कहानी को पढ़ कर तो कोई भी द्रवित हुए बिना रह ही नहीं सकता। सो पाठक वृंद इसका निर्णय ख़ुद करें कि कहानी कितनी भावात्मक है। इस संग्रह से गुज़रते हुए मुझे कहानियों में कहीं भी औरत की किसी बुराई का आभास नहीं हुआ। बस हर कहानी में नारी अपनी अस्मिता की पहचान के लिए संघर्षरत है। कहानी संग्रह पढ़ कर मुझे लगा कि वन्दना आधुनिक हिन्दी कहानी की सशक्त हस्ताक्षर है। मैं हिन्दी का कोई बहुत बड़ा विद्वान या समीक्षक तो नहीं पर हिन्दी साहित्य से अनभिज्ञ भी नहीं अर्थात यह समझने और व्यक्त करने में सक्षम हूँ कि किस लेखक को कथा लेखन की कितनी समझ है। सो वंदना मेरी कसौटी पर खरी उतरती है। पुस्तक के पृष्ट भाग पर जब नज़र दौड़ाता हूँ तो उनकी योग्यता की निपुणता साहित्य में नहीं: क्योंकि वह एक वणिक कन्या है और स्वाभाविक था उसका अपने व्यवसाय यानी बी.काम. की ओर जाना। ताज्जुब इस बात का है कि उन्होंने किसी कॉलेज या विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य नहीं पढ़ा, फिर भी उसे भाषा की गहरी समझ है, चाहे वह गद्य लिखे या पद्य। उन्होंने इसी भाषा की इसी सुविज्ञ कुशलता के बल पर एक अच्छा खासा रचना संसार रच दिया है। पुस्तक का पृष्ट भाग इस का साक्षी है। वंदना हठी लेखकों से कुछ हट कर संवेदनशील लेखिका है। लगता है कि इन्हें वंचनाएँ नहीं आती, नहीं तो जितना इन्होंने लिख लिया और बहुत अच्छा लिख लिया तो यह किसी पुरस्कार की हकदार बनती है, पर वंदना चाटुकारिता से परे है यही कारण है कि इनकी लेखनी से सशक्त रचनाएँ ही जन्म लेती हैं। मैं वंदना को इस कहानी संग्रह के लिए साधुवाद देता हूँ।

20 कहानियों का खूबसूरत गुलदस्ता पाठकों को आवाज़ देता है।

❐❐❐

RA O/O AEE, PSPCL
Machhiwara, (Ludhiana)
Punjab
मोबाइल 9876703205

पुस्तक चर्चा

अस्थायी चार दीवारी

डॉ. रेशमी पांडा मुखर्जी

पुस्तक: लघुकथा संग्रह
लेखक: वाणी दवे
प्रकाशक: जैनसन प्रकाशन

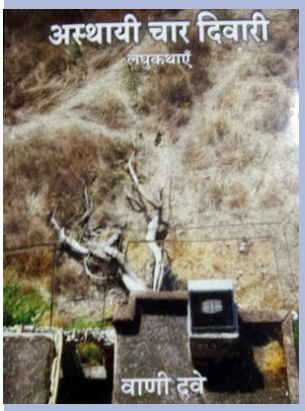

हाल ही में युवा लेखिका वाणी दवे का लघुकथा संग्रह 'अस्थाई चार दीवारी' पाठक समाज को मिला। पुस्तक अपने छोटे से कलेवर में कई रिश्ते-नातों के तार में बंधे मानव जीवन को विश्लेषित करने में सक्षम है। लेखिका ने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया है कि यह उनका पहला लघुकथा संग्रह है जिसमें विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी लघुकथाओं को संकलित किया गया है। उल्लेख योग्य तथ्य यह है कि प्रथम संग्रह की स्वाभाविक अपरिपक्वता इस संग्रह में लेशमात्र भी नहीं है।

लेखिका पारिवारिक रिश्तों, पर्यावरण संरक्षण, जीव-जंतुओं के हाव-भाव की सूक्ष्म पारखी हैं एवं उनकी परख का यथोचित मूल्य उनकी लेखनी ने चुकाया है। पुस्तक में कुल 61 लघुकथाओं का मंजर देखने को मिलता है जिनके शीर्षक से लेकर वस्तु-विन्यास में नवीन चेतना के संकेत हैं। नवीनता तो पुस्तक के नाम में भी गुँथी हुई है जो पाठकों के औत्सुक्यवर्धन में यथेष्ट सक्षम हैं। वाणी जी पारिवारिक संबंधों की गरमाहट व नरमाहट को बहुत अहमियत देती हैं जिसका प्रमाण संग्रह में संकलित माँ गुलमोहर बन गई, जानकी भवन, दम्पत्ति, उँगली, बौने पापा, तेरी बदसूरत माँ जैसी लघुकथाएँ देती हैं एवं इस भावुक मानस के लिए लेखिका के पारिवारिक माहौल को श्रेय दिया जा सकता है। आपने आज के अति आधुनिक शुष्क परिवेश में माँ के वात्सल्य, पुत्र के स्नेह, बड़ों के प्रति आदर भाव तथा पारिवारिक मेल-मिलाप को अत्यंत सहेजकर समुद्र में कहीं भीतरी तह से छुपी हुई मोती की तरह निकाला है। परिवार के टूटने पर ही सामाजिक विघटन की प्रक्रिया जोर पकड़ती है। जनसंचार व पत्रकारिता से लंबे समय से जुड़े रहने के फलस्वरूप लेखिका वाणी दवे सामाजिक चरमराहट की आहट खूब पहचान लेती है।

आपकी भाषा लघुकथाओं को संवारने और संप्रेषणीय बनाने में पूर्णत: सफल हुई है। शब्दों को तराशते हुए आपने अपने भावों को पूरी तन्मयता व तीव्रता के साथ पाठकों के हृदय तक पहुँचाया है। युग की दरकार को मानते हुए कई लघुकथाओं के शीर्षक व कथावस्तु में अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग को दाखिला दिया है जैसे रिटायरमेंट, सेटलमेंट, प्रायवेसी, इंटीरियर, टाइल्स, रिस्क आदि। लेखिका ने प्रकृति को अपने लेखन में यथोचित स्थान देते हुए मछली, केकड़े, सुरक्षा-1 आदि लघुकथाओं को रचा है।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि वाणी दवे की प्रस्तुत कृति निश्चित रूप से आगामी दिनों में उनकी ओर से पाठकों को मिलने वाली महत्त्वपूर्ण रचनाओं का संकेत है। उनका लेखन नवीनता व युवा शक्ति का प्रतीक है। आज के हिंदी लेखन में लघुकथाओं के प्रति इतनी गहन निष्ठा सराहनीय है। भविष्य में लेखन की और अधिक परिपक्वता की शुभकामनाओं सहित एक बड़े पाठक वर्ग को आप अपने साथ ले चलें, इसकी हम कामना करते हैं।

❐❐❐

2-ए, उत्तरपल्ली, सोदपुर, कोलकाता-700110
मोबाइल - 09433675671

समीक्षा

आम मध्यवर्गीय चेतना से स्पंदित गीत

सौरभ पाण्डेय

पुस्तक: थोड़ा लिखा समझना ज़्यादा (कविता संग्रह); लेखक: जय चक्रवर्ती
प्रकाशक: उत्तरायण प्रकाशन

गीत आत्मीय भावों की गहनता के शाब्दिक स्वरूप होते हैं। तभी तो गीतों में प्रेम, वेदना, करुणा, आध्यात्म आदि के विभिन्न आयामों की नितांत वैयक्तिक अनुभूतियों का स्थान सर्वोपरि हुआ करता है। वस्तुत: गीतों के हो जाने का कारण इन भावनाओं के विभिन्न आयामों की सान्द्र स्वानुभूतियाँ ही हुआ करती हैं। किन्तु, साथ ही, सामाजिक दायित्व गीतकार को मानवीय भावनाओं और स्वानुभूतियों के आयामों में प्रभावी घटनाक्रमों को परखने की अकूत क्षमता भी दे देते हैं। आमजन के जीवन में राजनैतिक और प्रशासनिक निर्णय एवं इसकी दशा के पहलू विशेष प्रभावी हुआ करते हैं। इस तथ्य को पुनर्प्रतिस्थापित करता है उत्तरायण प्रकाशन, लखनऊ से प्रकाशित जय चक्रवर्ती का गीत-संग्रह 'थोड़ा लिखा समझना ज़्यादा' ! इस संग्रह के माध्यम से जय चक्रवर्ती सामाजिक ताने-बाने को आमजन की दृष्टि से समझने एवं समझाने का प्रयास करते हुए सापेक्ष होते हैं। नितांत वैयक्तिक अनुभूतियों, रजानैतिक सामाजिक विद्रूप दशाओं और आमजन पर प्रभावी विचारों, उनके सुख-दुख, उनकी टूटन, निर्लिप्ति, प्रेम आदि को स्वरबद्ध करने का सफल प्रयास करते दीखते हैं। अधिकांश रचनाओं का स्वरूप सर्वसमाही संप्रेषण का ऐसा उदाहरण बन कर सामने आया है, जिसके परिवेश में आमजन की तदनुरूप भावदशाएँ संतुष्टि पाती हैं - नज़रों पर दिल्ली रहती है / दिल्ली पर नज़रें / दिल्ली को दिल्ली रखती है / दिल्ली की ख़बरें / कुर्सी के सपनों में / केवल दिल्ली रहती है / ... / रोज़ सँवरती बाहर से / भीतर से ढहती है !

आम मध्यवर्गीय परिवार की सोच पर प्रशासनिक अहँमन्यताएँ कितनी हावी हैं, इसे जय चक्रवर्ती ने सार्थक स्वर दिया है। यही वह स्वर है जो आज गीतों का घोष स्वर बन कर उभरा है जो प्रभावी और प्रभावित के मध्य दाता-याचक का संबंध स्वीकार नहीं करता बल्कि अपने अधिकार की मुखर अभिव्यक्ति चाहता है, और तदनुरूप दृढ़तापूर्वक सामने आता है।

भारतीय परिवेश में गीतों की एक अत्यंत लम्बी और रोमांचक परंपरा रही है, इसी परम्परा से नवगीत प्रसूत हुए हैं। नवगीतों की सत्ता छांदसिक अनुभाव के साथ-साथ जीवन के व्यावहारिक पक्ष को भी साथ लिए चलती है, जो हर बिन्दु पर समाज को पूरी संवेदना के साथ प्रभावित करता है। जय चक्रवर्ती ने गीतों में एक अवयव और जोड़ा है, वह है संवाद का ! जय चक्रवर्ती की मनोदशा एवं उनके स्वर में अवधी भाषा की वाचिक परम्परा जीती है, जिसकी भाषाई विशेषताओं में वाचिक परम्परा का निर्वहन होता है। वाचिक भाषा की अभिव्यक्तियाँ संवादात्मक हुआ करती हैं। रचनाकार गोया अपनी बातें बतियाता हुआ प्रस्तुत करता है, घटित काल पर बातें करता हुआ रचनाकार अपने समय पर चर्चा चाहता है, न कि उन पर अच्छे-बुरे होने की एकांगी टिप्पणी करता है। यह विशिष्टता जय चक्रवर्ती की अभिव्यक्तियों का सबल पक्ष है। वैसे तो अपने गीतों के माध्यम से हर गीतकार संवाद की चेष्टा करता है। लेकिन गीतों में इस अवयव का इस तरीके मुखर होना जय चक्रवर्ती के गीतों को बोलता-सुनाता का स्पष्ट रूप देता है। इस 'होने' का मुख्य कारण है, जय चक्रवर्ती का परिवेश, जिसके पगने और व्यापने का कारण है, गंगा-जमुनी संस्कृति, जो आपसी संवाद को प्रमुखता देती हुई ही विकसित हुई है। इसी कारण आपके गीत किसी विशेष वर्ग या काल-खण्ड के व्यवहार की भावदशा के शाब्दिक होने का परिणाम मात्र न हो कर, मानवीय जीवन-यात्रा के विभिन्न पहलुओं के सक्षम, सार्थक और सहज शब्दांकन हुआ करते हैं, जिनका प्रेषण प्रभावी मनस को अवश्य ही संवेदित करता है। आज के साहित्य की माँग भी यही है कि नवगीत अपने नए कलेवर में वैयक्तिक मनोदशा के क्लिष्ट तत्त्वों को सहजता से अभिव्यक्त कर पाएँ, ताकि वे आमजन और प्रभावित वर्ग की अभिव्यक्ति बन कर प्रस्तुत हों। जय जी की अभिव्यक्तियों की बानग़ी देखें - वृन्दावन आग में दहे / कान्हाजी रास में मगन / .. / चाँद ने चुरा ली रोटियाँ / पानी ख़ुद पा गई नदी / ध्वंस-बीज लिए कोख में / झूमती है बदचलन सदी / वृन्दावन भूख से मरे / कान्हाजी जीमते रतन ...

वस्तुत: गीति-भावाभिव्यक्तियों में भौतिक संसार के ऊहापोही संजाल और उलझनों के बावज़ूद जी सकने के सूत्र हुआ करते हैं।

अवगुंठित वैचारिकता इन्हीं सूत्रों से प्रकाश एवं प्रवाह पाती है, जहाँ आत्मतुष्टि के बिन्दु सहलाते और सहारा देते हुए संबल की तरह व्यवहार करते हैं। इसी कारण, गीत-दायित्व किसी मनस का सामाजिक या पारिवारिक परिप्रेक्ष्य में पलायन कत्तई नहीं हैं, बल्कि स्थापित मान लिए गए व्यवहार एवं दशा से प्रत्यक्ष संवाद हैं। जय चक्रवर्ती समाज पर राजनैतिक अदूरदर्शिता का व्यापक परीक्षण करते हुए अपने कथ्य को पौराणिक बिम्बों का सहारा देते हुए भी आजका टटकापन बनाए रहते हैं - शकुनि-दुर्योधन-दु:शासन / लिख रहे हैं फैसले / मौन हैं धृतराष्ट्र / जलता हस्तिनापुर / तो जले / ... / ये धुआँए-दिन / कोई जी ले यही बड़ी हिम्मत !

सभ्यता के प्रारम्भ से ही लोकमानस गीतों में अपने विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति पाता रहा है। जय चक्रवर्ती का गीत-संग्रह 'थोड़ा लिखा समझना ज़्यादा' के गीतों-नवगीतों का निजी भाव समाज की अनुभूत दशा का ही शब्दांकन है। मानवीय मन के उल्लास या संत्रास तथा परिवर्तनजन्य स्थितियों-परिस्थितियों को इस गीतकार के गीत समान रूप से अभिव्यक्त करते हैं। जैसा कि विदित है, गीतों की दशा मात्र भावनात्मक एवं रागात्मक नहीं हुआ करती, न ही अंतर्लयता की रोमांचक अनुभूतियों के आक्षरित हो कर, उद्भाव के साथ सार्थकत: मुखर हो जाने का अर्थ गीत हुआ करता है। गीत वस्तुत: समाज की चेतना को सदिश करने के लिए, इस हेतु सकारात्मक चेष्टा के लिए, उत्कट आह्वान का माध्यम भी हुआ करते हैं। इन्हीं संदर्भों में जय चक्रवर्ती के गीतों की प्रासंगिकता स्पष्ट भी होती है। आपकी गीति-रचना का मुख्य हेतु सचेत भावबोध के तार्किक बिन्दुओं को प्रभावी मनस तक पहुँचाना, और फिर, उन्हें उद्वेलित करने की चेष्टा है - यूँ निचोड़ा वक़्त ने / तन हुआ सूखी झील जैसा / ... / उगे वन नागफनियों के / जहाँ बोया गुलाबों को / सजाते तो कहाँ आखिर / सजाते अपने ख़्वाबों को / ... / फूल जैसा प्रश्न / उत्तर - जंग खाई कील जैसा !

वहीं, जय चक्रवर्ती आमजन की ज़िन्दग़ी को सापेक्ष करते हुए अपने समकक्ष के रचनाकारों को भी अगाह करते हुए

दिखते हैं - सुनो कविवर ! / है नहीं ये समय / शब्दों की जुगाली का / ... / उड़ाओ बेख़ौफ़ / हर जुल्मो-सितम की धज्जियाँ / नोक पर अब / कलम के / किंचित जड़ों मत चुप्पियाँ / अन्यथा फिर भोगना परिणाम / इस हीला-हवाली का !

समाज संसृति-भाव का परिचायक है। इसकी गति द्रुत हो अथवा मंद, सतत अग्रसरित होने का द्योतक है। जब-जब वैचारिक अथवा व्यावहारिक परिवर्तन होता है, समाज अवश्य प्रभावित होता है। सचेत गीतकार प्रभावित पक्ष को अपने ढंग से प्रस्तुत करता है। जय चक्रवर्ती इसी काम को पूरी गंभीरता से करते रहे हैं। आपके गीत लोक-जन में प्रचलित छन्दों, आंतरिक लयता और बिम्बात्मकता में लोकधर्मी प्रयोग करते हुए कुछ विशिष्ट ढंग से सामने आते हैं, जहाँ आम जन उन्हें अपनी अभिव्यक्ति कहता हुआ सूत्रवत स्वीकार कर लेता है। इसी कारण तो आपकी अभिव्यक्तियाँ 'नवगीत' हैं। इस वर्तमान काल-खण्ड के अन्यान्य गीतों को सामने रख कर सहज ही समझा जा सकता है। जय जी नवगीतों के स्थूल किन्तु मान्य हो चले स्वरूप से हमेशा बचने का प्रयास करते हैं। सही भी है, 'नवता' प्रयुक्त शब्दों और बिम्बों से ही नहीं सधती, बल्कि सोच, तदनुरूप प्रयुक्ति और अभिव्यक्ति से सधती है। इन अर्थों में जय जी का गीत-संग्रह 'थोड़ा लिखा समझना ज़्यादा' का अवगाहन अर्थपूर्ण हो उठता है।

मनुष्य के संप्रेषण अंतर्मुखी हों अथवा बहिर्मुखी, प्रत्येक दशा में अपेक्षा और उपेक्षा के भाव-विन्दु विद्यमान ही नहीं, रुपायमान भी रहते हैं। तथाकथित विकास के नाम पर भारी चीख-पुकार के बावज़ूद ग्रामीण परिवेश प्रकृति की दया पर ही आश्रित दिखता है। लगातार रुक्ष होते हुए गाँव के विद्रूप माहौल हों, अथवा ईंटों के जंगलनुमा शहर, इनमें जीता हुआ आमजन अपने प्रतिदिन के संघर्ष में इसी प्रकृति के अव्यवस्थित स्वरूप को जीता हुआ इसकी मौज़ूदग़ी को महसूसता है। कोई संवेदनशील गीतकार बिना प्रभावित हुए रह ही नहीं सकता - पवतों के वक्ष पर अंकित अमंगल / मृत्युशैया पर पड़े जल और जंगल / रिस रहे हैं / घाव धरती के हृदय के..

या फिर कृतज्ञता का भाव सरलीकृत हुआ सरस हुआ निस्सृत हो उठता है - शीश पर रहती तुम्हारी छाँव हरदम / वृक्ष ! तुम बिल्कुल पिता जैसे

भारतीय जनमानस कोई आज की राजनैतिक विचारधारा और तात्कालिक भावनाओं की उपज नहीं है जो कि पाश्चात्य राष्ट्रों के होने का कारण है। लेकिन औपनिवेशिक सत्ता की जकड़न ने कई वादों और मतों को भारतीय जन-समाज में पैर पसारते देखा है। इसी के समानान्तर स्वतंत्रता के बाद की संक्रमित राजनीति तथा बदस्तूर क़ायम अधिनायकवाद के स्वरूप ने भी जैसे अपने बने रहने और आवश्यक शोषण की परम्परा विकसित कर ली है। यह वाकई जुगुप्साकारी है, लेकिन इसके बावज़ूद आमजन के लिए निरुपाय बने रहना नियति हो गई है। इस राजनैतिक स्थापना के विरुद्ध गीतकार सीधा प्रतिकार करता है

- रोज़ सवेरे दरवाज़े पर / दहशत / जड़ जाता शहज़ादा / थोड़ा लिखा समझना ज़्यादा / ... / हाथ विजय-ध्वज लिए / विदूषक नंगे नाच रहे हैं / छौनों की बेबस चीखों को / हँस-हँस बाँच रहे हैं / ओढ़ी है वज़ीर ने चुप्पी / सर्वे-सर्वा है अब प्यादा ..

स्वतंत्र भारत में प्रशासन हेतु विकसित हुए तंत्र को इतना अधिक लचर और मुखापेक्षी या फिर पीड़क बना दिया गया है कि कई बार आश्चर्य होता है कि ऐसी दुर्दशा से निजात भी कैसे मिलेगी ? इस तंत्र में कई परजीवी इकाइयाँ विकसित हुई हैं या विकसित की गई हैं। जनता से जनता का सेवक बड़ा हो गया है। पिछले सत्तर वर्षों में

जिस नकली व्यवस्था को भारत का मुख्य तंत्र कह कर जनता को बरगलाया गया है, उससे आज जनता ऊब चुकी दिखती है। इन विषयों पर तार्किक प्रहार करते जय चक्रवर्ती केवल अपनी बात नहीं करते, बल्कि आमजन के प्रतिकार और संचेतना को शब्द देते हैं - अंधों के आदेश / रात-दिन ढोता राजमहल / मिला हस्तिनापुर को / जाने किस करनी का फल ! / ... / मिले शकुनि को मान / झिड़कियाँ पाते रोज़ विदुर / राजसभा में / पारित होते दुर्योधन के सुर / ... / आँख-आँख पर / चढ़ी हुई है / स्वारथ की साँकल ..

गेयता के लिए शब्दकलों को साधने के क्रम में तनिक और सचेत रहना संग्रह में सम्मिलित हुई कुछ रचनाओं की शैल्पिकता को और सशक्त कर सकती थी। लेकिन कथ्य और भावपक्ष की सान्द्रता ऐसे बिन्दुओं पर देर तक ठहरने नहीं देती। जय चक्रवर्ती का मुख्य स्वर गीत ही है। गीत बिना लय और वाचन-प्रवाह के संभव ही नहीं हो सकता। मंच के लिहाज से स्वीकृत मान लिए गए ऐसे विन्दु लिखित साहित्य में बहुत दूर और देर तक टिके नहीं रह सकते। इन दोनों तरह की रचनाओं के बीच का अंतर जय चक्रवर्ती खूब समझते हैं। और यह भी, कि इस अंतर को जितना शीघ्र समाप्त किया जाय, साहित्य का ही भला होगा। रचनाकाश का सारस्वत-विस्तार उतना ही निरभ्र होगा। इस निरभ्रता का लाभ अपने समाज को ही मिलना है जो साहित्य का हेतु है। यही चेतना जनसाहित्य की अपेक्षा भी है। इस ओर सभी गीतकारों को सचेत हो कर सोचना ज़रूरी है। इस ओर कितनी निष्ठा बनी है उस ओर जय चक्रवर्ती के शब्दों में देखें

- हो रहा है जो / उसे होने दो / किसी से कुछ कहो मत / ... / अनबुझी इक प्यास ओढ़े / लोग भागे जा रहे हैं / साथ वालों को गिरा कर / स्वयं आगे जा रहे हैं / ... / एक चुटकी हँसी / जीने की / किसे है यहाँ फुर्सत ?

वर्तमान परिस्थितियों में गीतों में यदि प्रगतिशीलता के तत्त्व न हों, तो वे एक विन्दु के बाद लगभग अप्रासंगिक हो जाते हैं। पाठक-श्रोता के तौर पर आमजन भी उनका लगातार आस्वादन नहीं कर पाता। पाठक को भावुकता की कोरी शब्दावलियाँ देर तक बाँधे नहीं रह सकतीं। दूसरे, आमजन को वायव्य संसार में ले जाने और यथार्थ से भटकाने का जो दोष गीतकारों पर लगता रहा है, उसके प्रति जय चक्रवर्ती पूरी तरह से जागरुक हैं। गलदश्रु भावनाएँ सामाजिक दशा के प्रति अत्यंत प्रासंगिक सोच रखने वाले गीतकार के लिए मुख्य स्वर हो भी नहीं सकती थीं। क्योंकि प्रेम-प्रसंगों के दैहिक निवेदनों का अतिरेक ही तो गीतों के हाशिये पर चले जाने का मुख्य कारण बना था। लेकिन इस परिप्रेक्ष्य में इस सचेत गीतकार के स्वर को सुनें - तुम्हारी दृष्टि को छूकर / फिरे दिन फिर गुलाबों के / ... / तिरी छवियाँ तुम्हारी / सृष्टि के / पावन प्रसंगों में / घुली फिर ताज़गी बरसों रहे बीमार रंगों में / ... / तुम्हारे नाम से जुड़ कर / खिले चेहरे किताबों के / ... / तुम्हारा स्पर्श पा कर / तन हवाओं का हुआ चंदन / लगे फिर देखने सपने / कुवाँरी ख़ुश्बुओं के मन / ... / फ़िज़ाओं में / छिड़े चर्चे / सवालों के, ज़वाबों के..

प्रेम का जो स्वरूप यहाँ उद्बोधित हुआ है, उसके प्रति समर्पण ही गीतकार की रचनात्मकता का बल भी है और उज्ज्वल पक्ष भी है। जय चक्रवर्ती के गीतों में आम मध्यवर्गीय चेतना स्पंदित होती हुई महसूस होती है।

जय चक्रवर्ती को पढ़ते हुए यह बार-बार समझ बनती है, कि आजका पाठक वायव्य भाव-भावना और अति महिमामण्डित विगत की गाथा से देर तक बँधा नहीं रह सकता। छायावादी प्रतीकों और बिम्बों के रहस्य आजके पाठकों को देर तक नहीं लुभा सकते जितना कि यथार्थवादी, वस्तुपरक, समाज सापेक्ष बिम्ब और कथ्य आमजन को बाँध सकते हैं। वस्तुत: यही तो गीत-यात्रा के नए दौर का परिचायक है। आजके पाठकों को तो गतिशील यथार्थ का बहुवादी स्वरूप अधिक आकर्षित करता है, जहाँ जाति, सम्प्रदाय, भाषा, प्रान्त आदि की सीमाएँ अपने पारम्परिक संकीर्ण स्वरूप के कारण टूट रही हैं और गीत व्यापकता को अंगीकार कर नए समाज की संरचना के लिए आग्रही दिखता है। आवश्यक है, देश, काल, परिस्थिति और समाधान पाठक ही नहीं, गीतकार के लिए भी अधिक अर्थवान होने चाहिए। यह अपने समाज के प्रति जय चक्रवर्ती का दायित्वबोध ही है, कि उसकी विसंगतियों और राजनैतिक रूप से विद्रूप प्रवृत्तियों को स्वर देते समय वे कहीं से भी निंदक नहीं दिखते। इस हिसाब से यह देखना आवश्यक हो जाता है कि रचनाकार इन अपेक्षाओं के सापेक्ष कितना संवेदनशील है - है ग़ज़ब / अख़बार टीवी है हमारेदौर के ! / ... / है महारथ हाथ रखने की / इन्हें दुखती रगों पर / बेचते संवेदनाएँ / कल्पनाओं के रथों पर / हाथ में टीआरपी कीले मशालें / दौड़ते हैं - / सनसनी, उत्तेजना, / सच, झूठ के अंधे पथों पर / ... / क्या सजग / अख़बार टीवी हैं हमारे दौर के !

आज का पाठक घटनाओं और व्याप गई दशा पर मात्र विवेचना नहीं चाहता, बल्कि आजकी दशा, आजके बिम्ब और विडंबनाओं के विरुद्ध वह सामयिक समाधान चाहता है। ऐसे में गीतकारों को सचेत हो जाना चाहिए। गीति-काव्य आज अपने कई पहलुओं को साथ लिए साहित्यकर्म के केन्द्र में है। कहना न होगा, जय चक्रवर्ती के पास इस चेतनाबोध से उपजी उर्वर समझ है - मुस्कुरा कर बात / फिर करने लगे हैं भेड़िए / मानिए, ख़तरा बहुत नज़दीक है / ... / गुफाओं में / छोड़कर इतिहास-आदमखोर अपना / कर दिया फिर से / इन्होंने रात-दिन हरिनाम जपना / ...

कुल इक्यावन गीतों के इस संकलन में कई गीत जय चक्रवर्ती के रचनाकर्म के प्रति अगाध आश्वस्ति के भाव जगाते हैं। उनका गीतकार अपनी सारस्वत क्षमता को सतत परिमार्जित करता हुआ इस दिशा में और सचेष्ट, और आग्रही, और व्यापक होता जाए। इस संग्रह के माध्यम से गीतकार को डॉ. भारतेन्दु मिश्र एवं डॉ. ओम प्रकाश सिंह तथा नचिकेता की सापेक्ष शुभकामनाएँ मिली हैं, जिनका इस गीतकार की रचनाधर्मिता के प्रति अगाध स्वीकृति भाव है।

❐❐❐

एम-2 / ए-17, ए.डी.ए. कॉलोनी
नैनी, इलाहाबाद - 211008
(उत्तरप्रदेश)
मोबाइल : +91-9919889911
ईमेल: saurabh312@gmail.com

समीक्षा

गहरा कटाक्ष समय और समाज पर

पारुल सिंह

पुस्तक: चौपड़े की चुड़ैलें (कहानी संग्रह), लेखक: पंकज सुबीर
प्रकाशक: शिवना प्रकाशन

नई सदी के प्रारंभ के चार-पाँच वर्षों हिन्दी कहानी एकदम से चेहरा बदल कर सामने आई। यह जो परिवर्तन दिखाई दिया, यह उन युवा कहानीकारों के कारण था, जो उस समय अपनी कहानियाँ लेकर सामने आए। पंकज सुबीर का नाम भी उनमें से ही एक है। पंकज सुबीर का चौथा कहानी संग्रह 'चौपड़े की चुड़ैलें' नाम से प्रकाशित होकर आया है। यह पंकज सुबीर का चौथा कहानी संग्रह है। पंकज सुबीर की कहानियों को उनकी क़िस्सागो शैली के कारण पाठक ख़ूब पसंद करते रहे हैं। ये कहानियाँ लम्बी होने के बाद भी इसी शैली के चलते बिना बोझिल हुए पठनीयता को बरकरार रख पाती हैं। पंकज सुबीर ने अपनी कहानियों की एक भाषा भी विकसित की है, इस भाषा में कहावतों, श्रुतियों और लोकोक्तियों का खुलकर उपयोग वे करते हैं, कभी-कभी तो प्रयोग के रूप में कुछ अपनी कहावतें भी गढ़ते हैं। पंकज सुबीर की कहानियों की एक और विशेषता उनके विषयों का फैला हुआ संसार है। हर दूसरी कहानी पिछली कहानी से बिल्कुल अलग तरह के विषय पर होती है। कहानी संग्रह को पढ़ते समय पाठक इस विविधता का आनंद महसूस होता है। पंकज सुबीर ने हर कहानी संग्रह में एक रेंज पाठकों के सामने रखी है, फिर चाहे वो पहला कहानी संग्रह 'ईस्ट इंडिया कंपनी' हो, 'महुआ घटवारिन' हो, पिछला कथा संग्रह 'कसाब.गांधी एट यरवदा.इन' हो, या फिर ये नया कहानी संग्रह चौपड़े की चुड़ैलें हो। वैविध्य पंकज की कहानियों का सबसे सशक्त पक्ष है।

'चौपड़े की चुड़ैलें' के नाम से प्रकाशित होकर आए इस कहानी संग्रह में पंकज सुबीर की नौ कहानियाँ हैं। शीर्षक कहानी पंकज सुबीर की चर्चित कहानी है जिस पर उनको हिन्दी का प्रतिष्ठित 'राजेंद्र यादव हंस कथा सम्मान' प्राप्त हुआ था। संग्रह की पहली कहानी 'जनाब सलीम लँगड़े और श्रीमती शीला देवी की जवानी' अपने लम्बे और उत्सुकता जगाने वाले नाम के कारण आकर्षित करती है। यह कहानी नया ज्ञानोदय में प्रकाशित होने के बाद काफी चर्चित रही थी। इस कहानी में पंकज के अंदर का क़िस्सागो फुल फॉर्म में दिखाई देता है। शीला देवी और सलीम लँगड़े के मिलने का प्रथम दृश्य किसी चित्र की तरह रचा गया है। उसमें क़िस्सागो शैली का जादू पाठक के सिर पर चढ़ जाता है। मरे हुए साँप की लक्ष्मण रेखा को पार करते जनाब सलीम लँगड़े और उसके बाद घनघोर बरसात, हिना का इत्र ये सब मिलकर पाठक को खेत में बने उस टप्पर में ही प्रत्यक्ष ले जाते हैं मानों। इसी प्रकार का एक दृश्य कहानी के अंत में रचा गया है। अंत का पूरा दृश्य बहुत कौशल से रचा गया है। वर्तमान समय के प्रतीक के रूप में एक उल्लू को पेड़ पर बैठा होना, घटना विशेष के समय उड़ जाना और घटना के तुरंत बाद वापस आकर बैठ जाना तथा आवाज़ बदल कर बोलना, यह सब बहुत गहरा कटाक्ष है वर्तमान राजनैतिक समय और समाज पर। इस कहानी का प्रभाव पाठक के दिमाग़ पर कहानी ख़त्म होने के बाद भी बना रहता है।

संग्रह की दूसरी कहानी 'अप्रैल की एक उदास रात' बिल्कुल अलग तरह के विषय पर लिखी गई कहानी है। इस कहानी को भी इसकी भाषा ने विशिष्ट बना दिया है। नब्बे के दशक में युवा हुई पीढ़ी को यह कहानी बहुत पसंद आएगी क्योंकि इसमें सब कुछ उनके समय का है। और उस समय को उस समय के फ़िल्मी और ग़ैर फ़िल्मी गीतों के द्वारा कहानी में दर्शाया गया है। मूल कथा के अलावा भी बहुत कुछ ऐसा है जो इस कहानी को पठनीय बना देता है। विशेषकर गर्मी की दोपहरों, उदास शामों तथा सूनी रातों का जो चित्रण है वो पाठक को बाँध लेता है। पीपल के पेड़ तथा उससे गिरते हुए पत्तों का रूपक प्रयोग में लाकर लेखक ने कहानी की मुख्य पात्र जो एक स्त्री है, का जीवन बहुत बारीकी से प्रतिबिम्बित किया है। कहानी सीधे-सीधे एक प्रतिशोध कथा है लेकिन लेखक ने उसमें रेशमी भाषा का प्रयोग करके उसे उदास प्रेम कथा में परिवर्तित कर दिया है। कहानी के संवादों में गहरी और ठहरी हुई ख़ामोशी पाठक को महसूस होती है। कहानी का अंत एकदम से चौंकाता है। अंत जिस प्रकार से होता है वह पाठक की कल्पना से परे होता है। एक गहरे रहस्य को परत दर परत उघाड़ती यह कहानी पाठक को अंत में स्तब्ध छोड़ कर समाप्त हो जाती है।

तीसरी कहानी 'सुबह अब होती है... अब होती है... अब होती है...' एक अपराध कथा है। हंस के रहस्य-रोमांच विशेषांक में प्रकाशित अपराध कथा। लेकिन लेखक ने इसे केवल अपराध कथा बनने से अपनी सजगता के चलते बचा लिया है। यह कहानी अपराध कथा होने के बजाय स्त्री के संघर्ष की कहानी बन जाती है। लेखक ने कहानी की मुख्य स्त्री पात्र के द्वारा संवादों के माध्यम से कई मुद्दों को, कई विमर्शों को स्वर दिया है। एकाकी जीवन जी रही वृद्ध स्त्री के उदास जीवन को लेखक ने कुशलता के साथ चित्रित किया है। कहानी पढ़ते समय पाठक उस स्त्री के साथ संवेदना के धरातल पर जुड़ जाता है। इस प्रकार कि अंत में जो कुछ होता है, उसे भी पाठक क्षमा कर देता है। कहानी अपने संवादों के चलते प्रभाव उत्पन्न करती है। उम्र के दो अलग-अलग पड़ावों पर खड़े दो व्यक्तियों के बीच के संवाद, उनके द्वंद्व और उनकी असहमतियाँ इस कहानी को विशिष्ट बना देती हैं। और उन सबसे ऊपर वह रहस्य जो कहानी के सबसे अंत में जाकर खुलता है, उसके खोले जाने का

अंदाज़ कहानी के प्रभाव को कई गुना बढ़ा देता है। हिन्दी में इस प्रकार की कहानियाँ लिखने का चलन नहीं है, यह कहानी पाठक हेतु है।

संग्रह की चौथी कहानी शीर्षक कहानी 'चौपड़े की चुड़ैलें' है। इस कहानी पर लेखक को राजेंद्र यादव हंस कथा सम्मान प्राप्त हुआ था। यह कहानी संग्रह की सबसे सशक्त कहानी भी है। इंटरनेट तथा मोबइल के माध्यम से युवाओं के जीवन में घोली जा रही गंदगी की चिंता इस पूरी कहानी में है। लेकिन उसको लेकर ने जो कथा रची है वह भी कम दिलचस्प नहीं है। कहानी का पहला हिस्सा किसी फ़िल्म की तरह गुज़रता है। एक टूटी हुई खंडहरनुमा हवेली, उसके पीछे आमों का वीरान बाग़, बाग़ में एक चौकोर बावड़ी, जिसे चौपड़ा भी कहते हैं और उसमें आवारा पत्तों की तरह बिखरे जवान होते लड़के, जो अपने सवालों के उत्तर तलाश रहे हैं। कहानी के हिस्से में रात के अँधेरे में दिखाई देने वाली चुड़ैलों का रूपक बहुत ख़ूबसूरती के साथ गढ़ा गया है। कहानी दूसरे हिस्से में आमों के बाग़ से निकल कर लड़कों के साथ हवेली के अंदर पहुँच जाती है और फिर बिल्कुल नए रूप में सामने आती है। पहले हिस्से की भाषा और शैली तथा दूसरे हिस्से की भाषा और शैली में बहुत अंतर दिखाई देता है। और फिर कई सारे सवालों को पीछे छोड़कर यह कहानी समाप्त हो जाती है। लम्बे समय तक याद रहने वाली कहानियों में से है यह कहानी।

'इन दिनों पाकिस्तान में रहता हूँ' कहानी वर्णन की शैली द्वारा रची गई कहानी है। फ़्लैश बैक में जाती है फिर वापस लौटती है और फिर जाती है। इस आवागमन में दो बदले हुए समयों की कहानी पाठक को सुनाती है। बदले हुए समय, जिनके बीच में पन्द्रह-बीस सालों का अंतराल है। कहानी असल में तेज़ी के साथ बदलते समय और उसके साथ बदलती मानसिकता की कहानी है। पहले जो बातें आम होती थीं, अब वो सांप्रदायिक होती हैं। पिछले कुछ सालों में हमारे समाज में सांप्रदायिकता की जड़ों ने जो पैर पसारा है, यह कहानी उसके बारे में बात करती है। बताती है कि पूर्व में क्या था और अब क्या हो गया है। कहानी का शीर्षक पढ़कर जो

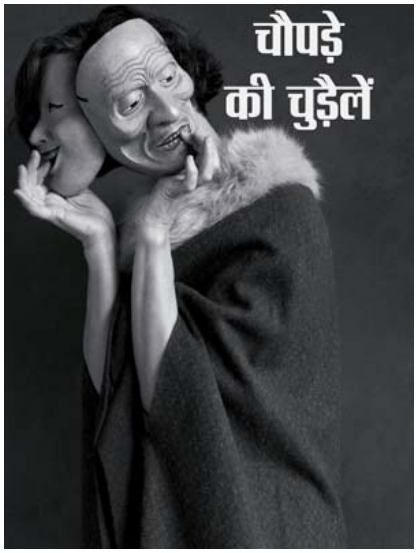

भ्रम पाठक के मन में पैदा होता है, वो कहानी को पढ़ कर दूर हो जाता है। कहानी को भावनात्मक स्तर पर जाकर गढ़ा गया है, इसलिए कहीं-कहीं पर ये कहानी पाठक को बेचैन कर देती है। कहानी के मुख्य पात्र भासा की छटपटाहट, उसकी बेचैनी को पाठक अपने अंदर महसूस करने लगता है।

कहानी संग्रह की अगली कहानी 'रेपिश्क़' कुछ असहज करने वाली कहानी है। असल में इस कहानी के साथ सहमत होने में पाठक को कुछ समय लग सकता है। हो सकता है कि कुछ पाठक इसके साथ सहमत हो भी न पाएँ। कहानी का शीर्षक जिस प्रकार का विरोधाभास उत्पन्न करता है, कहानी भी उसको साथ लेकर चलती है। कहानी बहुत संवेदनशील विषय पर लिख गई है। उसका एक दूसरा पक्ष यह कहानी उजागर करती है। यह दूसरा सच गले उतरने वाला नहीं है। कहानी के फार्मेट पर यह कहानी बिल्कुल कसी हुई कहानी है लकिन विषय के स्तर पर कुछ परेशान करती है पाठक को। इसी प्रकार एक कहानी है धकीकभोमेग, यह कहानी संग्रह की छोटी कहानियों में है। कहानी बाबाओं की दुनिया में झाँकती है और वहाँ के कड़वे सच को पाठक के सामने लाती है। कहानी जिस नैरेटर के माध्यम से कही जा रही है, उसकी अपनी कहानी और अपना फ़्लैश बैक कहानी के साथ आकर गूँथता है और इस विचित्र सा शब्द धकीकभोमेग जन्म लेता है। फ़्लैश बैक में मंदिर में खड़े हुए कहानी के नैरेटर के कुछ दिलचस्प दृश्यों को लेखक ने रच कर कहानी की पठनीयता को बनाए रखा है। मगर फिर भी लेखक की अन्य कहानियों की तुलना में यह कहानी कहीं-कहीं कुछ सपाट हो जाती है। क़िस्सागोई भी कम है इस कहानी में, जबकि कहानी को नैरेशन के अंदाज़ में ही लिखा गया है।

'औरतों की दुनिया' और 'चाबी' यह अंत की दो कहानियाँ हैं। दोनों ही कहानियाँ एक अलग तरह के पाठक वर्ग के लिए हैं। 'औरतों की दुनिया' में चाची और भतीजे के संबंधों के माध्यम से लेखक ने स्मृतियों में बसे हुए बचपन का चित्र खींचा है। कहानी बताती है कि संवादहीनता कई सारी समस्याओं की जड़ होती है। संवादहीनता को समाप्त कर दिया जाए तो संबंधों में जमी बर्फ़ को पिघलने में देर नहीं लगती। 'चाबी' कहानी पाठक को प्रारंभ होते ही उलझा लेती है। उलझन उन घटनाओं की जो एक के बाद एक हो रही हैं। पाठक इस बीच में कई बातें सोचता है, कई तरह से सोचता है, और अंत सब सोचे हुए से एकदम अलग निकल कर आता है। चौंका देना लेखक को बहुत पसंद है शायद।

पंकज सुबीर का यह कहानी संग्रह उनके पिछले तीन कहानी संग्रहों की ही तरह पठनीय है। और विषय वैविध्यता से भरपूर है। इस संग्रह को पढ़ते समय पाठक को कहीं भी एकरसता महसूस नहीं होती है। पंकज सुबीर की कहानियाँ लम्बी होती हैं, इसी कारण इस कहानी संग्रह में केवल नौ ही कहानियाँ हैं। उनमें से भी प्रारंभ की पाँच कहानियाँ बहुत लम्बी हैं, लम्बी कहानियाँ लिखने के अपने ख़तरे हैं और लेखक ने उन ख़तरों को उठाते हुए ये कहानियाँ लिखी है। पंकज सुबीर की पिछली कृति उपन्यास 'अकाल में उत्सव' था, जो बहुत चर्चित तथा सफल रहा था, ऐसे में पंकज सुबीर ने बहुत सावधानी से अपनी कहानियों का चयन करते हुए अगली कृति को पाठकों के सामने रखा है। सफलता के बाद सबसे मुश्किल होता है उसे दोहरा पाना। कहानी संग्रह की कहानियाँ इस दोहराए जाने का आश्वासन देती प्रतीत होती हैं।

❑❑❑

पारुल सिंह, डब्ल्यू-903, अमरपाली,
सेक्टर-120, नोएडा, उत्तरप्रदेश 201301
psingh0888@gmail.com

फ़िल्म-आलोचना

पार्टीशन : 1947 - तथ्यात्मक भ्रांतियों के बीच मानवीय संवेदनशीलता

प्रमोद मीणा

भारतीय मूल की गुरिंदर चड्ढा ब्रिटेन में रहने वाले प्रवासी भारतीयों के जीवन की जटिलताओं पर फ़िल्म बनाती रही हैं। लेकिन उनकी ताज़ा फ़िल्म 'वायसराय हाउस' एक ऐतिहासिक फ़िल्म है, जो हमारे देश की आज़ादी और विभाजन के पूर्ववर्ती छह महीनों के घटनाचक्र पर केंद्रित है। निश्चय ही यह फ़िल्म गुरिंदर चड्ढा की अब तक की सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षी फ़िल्म है किंतु अपनी इस फ़िल्म में वे ब्रिटेन के अंग्रेज़ दर्शकों और भारत के स्थानीय दर्शकों, दोनों को साधने के द्वंद्व में कुछ गंभीर तथ्यात्मक भूलें कर गई हैं। फ़िल्म में भारत के विभाजन में अंतिम वायसराय लॉर्ड माउंटबेटन की भूमिका पर लीपापोती करने के लिए विभाजन के लिए एक ओर चर्चिल को ही पूर्णत: जबावदेह घोषित कर दिया गया है, वहीं दूसरी ओर जिन्ना और मुसलमानों को भी एकांतिक रूप से विभाजन के लिए दुराग्रही दिखाया गया है। जिन्ना की भ्रामक प्रस्तुति के आरोप में इस फ़िल्म को पाकिस्तान में प्रतिबंधित भी किया जा चुका है। वैसे निर्देशिका ने अपने साक्षात्कारों में जिन्ना और मुस्लिमों की नकारात्मक छवि पेश करने से इंकार किया है। शायद निर्देशिका को यह भी अहसास था कि जिस प्रकार से उनकी यह फ़िल्म विभाजन में लॉर्ड माउंटबेटन की किसी भी प्रकार की नकारात्मक भूमिका का निषेध करती है, ऐसे में उनकी इस फ़िल्म पर ग़लत बयानी का आरोप लग सकता है और इसीलिए फ़िल्म अपने प्रारंभ में ही दर्शकों को ख़बरदार कर देती है कि इतिहास विजेताओं द्वारा लिखा जाता है। और फ़िल्म के उत्तरार्द्ध में दो स्वतंत्र देशों के रूप में भारत और पाकिस्तान के अस्तित्व में आने के अवसर पर माउंटबेटन के समक्ष जिन्ना की स्वीकारोक्ति स्पष्ट कर देती है कि हिंदुस्तान के राजनीतिक विभाजन में विजेता सिर्फ ब्रिटेन था। जिन्ना को जो पाकिस्तान दिया गया, वह आधा-अधूरा पाकिस्तान ही था। ऐसे विजेता ब्रिटेन में जिस निर्देशिका का बचपन बीता हो, ब्रिटिश शिक्षा विभाग द्वारा तय भारतीय इतिहास की पुस्तकें जिसने पढ़ी हों, उसके मानस में हिंदुस्तान के विभाजन के लिए उत्तरदायी कारकों को लेकर परस्पर द्वंद्व की स्थिति होना स्वाभाविक है। निर्देशिका ने स्वयं इसे स्वीकार किया है कि ब्रिटेन का इतिहास विभाजन के लिए हिंदू-मुसलिम सांप्रदायिकता को उत्तरदायी बताता है जबकि वे अपने घर पर हिंदू-मुसलिम सौहार्द्र की कहानियाँ सुनते-सुनते बड़ी हुई थीं। उन्होंने इंडियन एक्सप्रेस के साथ बातचीत में बताया है कि ब्रिटेन में उनके पियक्कड़ पिता के घनिष्ठ मित्र प्रवासी पाकिस्तानी हुआ करते थे; क्योंकि वे भी उनके पिता की जैसे उर्दू और पंजाबी बोल सकते थे। स्पष्ट है कि निर्देशिका की रगों में बहने वाला पंजाबी सिक्खों का हिंदुस्तानी ख़ून हिंदुस्तान के विभाजन की कहानी के ब्रिटिश संस्करण को तो ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर सकता था; किंतु साथ ही केन्या में जन्मी और ब्रिटेन में पली-बढ़ी एवं जापानी-अमेरिकन व्यक्ति की पत्नी होने के नाते, बहु सांस्कृतिक परिवेश में विकसित उनका मानस और अपनी कर्मभूमि ब्रिटेन के प्रति उनकी कृतज्ञता, भारतीयों या पाकिस्तानियों की जैसे विभाजन के लिए, न तो विधर्मियों को दोषी ठहरा सकती थी और न मार्क्सवादियों की। जैसे वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद को विभाजन का खलनायक दिखा सकती थीं। ऐसे में इतिहास को विजेताओं का इतिहास घोषित करने वाली चर्चिल की उक्ति का फ़िल्म के आरंभ में ही उल्लेख करना निर्देशकीय बुद्धिमता का सूचक है। चर्चिल की यह उक्ति फ़िल्म की राजनीतिक दिशा निर्धारित करने का काम करती है।

वास्तव में यह फ़िल्म दो प्रकार के दर्शकों को लक्ष्य करके बनाई गई है - भारतीय दर्शक और पश्चिमी दर्शक। फ़िल्म के इस दोहरे लक्ष्य के कारण ही निर्देशिका द्वारा अपनी पूर्ववर्ती फ़िल्मों की तरह ही इस फ़िल्म के हिंदी संस्करण का शीर्षक अंग्रेज़ी संस्करण से इतर रखा गया। ज्ञातव्य है कि फ़िल्म के हिंदी संस्करण को 'पार्टीशन : 1947' शीर्षक के साथ भारत में प्रदर्शित किया गया है। हिंदी दर्शकों के बाज़ार को ध्यान में रखते हुए हिंदी संस्करण का ट्रेलर भी सीधे-सीधे विभाजन की राजनीति पर केंद्रित रखा गया है जबकि अंग्रेजी संस्करण के ट्रेलर में फ़िल्म की ऐतिहासिक भव्यता को ज़्यादा उभारा गया है। यद्यपि फ़िल्म ब्रिटिश दर्शकों के अंदर अपराध बोध जगाने वाली है; किंतु अंतिम वायसराय को एकीकृत हिंदुस्तान का समर्थक दिखाना और उसे सीधे-साधे सरल हृदय के बेदाग़ व्यक्ति के रूप में फ़िल्म का नायक बनाकर प्रस्तुत करना, ब्रिटिश दर्शकों के साथ तादात्म्य बैठाने वाला है। चर्चिल के साम्राज्यवादी षड्यंत्र का शिकार यह वायसराय भारतीय दर्शकों के मन में भी अपने लिए सहानुभूति जगाता है।

फ़िल्म की कहानी में हिंदुस्तान के विभाजन के आरोपों से अंतिम वायसराय लॉर्ड माउंटबेटन को बेदाग़ साबित करने के लिए ऐतिहासिक तथ्यों से जो छेड़छाड़ हुई है, इतिहास की उस घनघोर उपेक्षा का कारण है विभाजन की ऐतिहासिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि को लेकर अपेक्षित होमवर्क न किया जाना। खुद निर्देशिका ने स्वीकारा है कि उनकी यह फ़िल्म मुख्यत: श्री नरेंद्र सिंह साहिल

द्वारा 11 वर्ष पूर्व लिखित एक अल्प चर्चित पुस्तक 'दि शैडो ऑफ दि ग्रेट गेम : दि अनटोल्ड स्टोरी ऑफ इंडिया' पर आधारित है। ये नरेंद्र सिंह साहिल अंतिम वायसराय के परिसहायक और कनिष्ठ लोक सेवक थे। फ़िल्म के क्रेडिट में ऐतिहासिक सलाहकार के रूप में मात्र एक ही नाम का उल्लेख आना भी अपने आप में इतिहास को लेकर निर्देशकीय गंभीरता का खुलासा करने के लिए पर्याप्त है। फ़िल्म में दिखाया गया है कि जिस अंग्रेज़ वकील सर सिरिल रेडक्लिफ़ को भारत-पाकिस्तान के बीच सीमा विभाजन का कार्य सौंपा गया था, वह मात्र कुछ सप्ताहों के अंदर यह भागीरथी कार्य नहीं कर सकता था विशेषत: तब, जबकि वह हिंदुस्तान के भूगोल, इतिहास, संस्कृति और अर्थव्यवस्था से बिल्कुल अंजान था। ऐसे में माउंटबेटन के कार्यालय प्रमुख लॉर्ड इस्माई उसे विंस्टन चर्चिल के तत्वावधान में तैयार किया गया विभाजित हिंदुस्तान का एक गुप्त नक्शा देते हैं, जिसके आधार पर वह हिंदुस्तान को दो देशों में विभाजित करने वाली रेडक्लिफ़ सीमा रेखा खींचता है। इस प्रकार फ़िल्म का उद्देश्य यह दिखाना है कि हिंदुस्तान के विभाजन की पूरी रूपरेखा पूर्ववर्ती ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल बना चुके थे, लॉर्ड माउंटबेटन तो निमित्त मात्र थे। निश्चय ही यह लॉर्ड माउंटबेटन के साथ विश्वासघात था; किंतु माउंटबेटन विभाजन की जिम्मेदारी उठाने को अभिशप्त था। समस्या यह है कि ठोस ऐतिहासिक तथ्यों से हिंदुस्तान के विभाजन की लकीर खींचने में चर्चिल की निर्णायक भूमिका साबित नहीं हो पाती। नि:संदेह हिंदुस्तान और हिंदुस्तानियों के प्रति चर्चिल की हृदयहीनता जगजाहिर थी; किंतु अंतिम वायसराय लॉर्ड माउंटबेटन का चेहरा चमकाने के नाम पर इतिहास के साथ इस प्रकार की छेड़छाड़ सह्य नहीं है।

ध्यातव्य है कि गुरिंदर चड्ढा के व्यक्तित्व की बहु सांस्कृतिकता उनकी पूर्ववर्ती फ़िल्मों में स्पष्टत: अभिव्यक्त होती है। उनके अंदर की यह बहुसांस्कृतिक पहचान ही 'भाजी ऑन बीच' (1993) और 'इट लाइक बेकहम' (2001) जैसी उनकी लोकप्रिय फ़िल्मों के चरित्रों में परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व के रूप में उभरती

है। उनकी फ़िल्मों के प्रवासी चरित्र विदेशी धरती की आबोहवा में साँस लेते हुए भी अपनी माटी की सोंधी ख़ुशबू का जुड़ाव नहीं छोड़ पाते। उनकी आलोच्य फ़िल्म 'वायसराय्स हाउस' में भी पीछे छूट गये अपने पुरखों और अपनी जमीन की पीड़ा ही व्यक्त हुई है, जिसके सूत्र हिंदुस्तान के विभाजन में अंतर्निहित हैं। ऊपर से देखने पर यह फ़िल्म विभाजन से जुड़ी राजनीति का आख्यान है किंतु यह फ़िल्म इस फ़िल्म की निर्देशिका के लिए विरेचन का कार्य भी करती है। निर्देशिका विभाजन की विभिषिका के साये में पली बढ़ी है। उनके पूर्वज वर्तमान पाकिस्तान के झेलम जिले में निवास करते थे। उनकी दादी जी को 1947 के सांप्रदायिक दंगों के कारण अपना घर गाँव छोड़ना पड़ा था और इसी विस्थापन यात्रा में निर्देशिका की 2 साल की बुआ भूखी-प्यासी मर गई थी। उसके बाद वह पानीपत रिफ्यूजी कैंप पहुँची जहाँ वह 18 महीने रही। इन 18 महीनों में निर्देशिका के दादा जी उन्हें इधर-उधर सर्वत्र तलाशते रहे थे। बीबीसी के एक कार्यक्रम 'हू डू यू थिंक यू आर' के तहत जब निर्देशिका अपने पुरखों का घर तलाशते-तलाशते अपने पुश्तैनी घर पर पहुँची, तो पाया कि अब उसमें रिफ़्यूज़ी रहते हैं, किंतु उन रिफ़्यूज़ियों ने जिस गर्म जोशी से निर्देशिका का स्वागत किया, उससे वे अभिभूत हो गई। विभाजन के बाद भी बची रह गई इसी मानवीयता ने उन्हें 'वायसराय्स हाउस' जैसी राजनीतिक फ़िल्म को भी विभाजन की भुक्तभोगी संवेदनशील स्त्री दृष्टि के साथ प्रस्तुत करने को प्रेरित किया। निर्देशिका के शब्दों में यह फ़िल्म उनके लिए विभाजन द्वारा दिये गये घावों को भरने वाली फ़िल्म है।

लेकिन यह फ़िल्म मात्र हिंदुस्तान के विभाजन की राजनीतिक कहानी नहीं है, अपितु इसमें पिछली सदी की उस भयावह त्रासदी के शिकार आम इंसानों के मानवीय चेहरों को भी पूरी संवेदना के साथ सामने लाने की कोशिश की गई है। फ़िल्म निर्देशिका ने इस दोहरे उद्देश्य के साथ न्याय करने के लिए राजनीतिक विभाजन के महाख्यान के साथ-साथ विभाजन की त्रासदी के शिकार हाशिये के आख्यानों को भी फ़िल्म में जगह दी है। इसके लिए ही फ़िल्म में वासराय हाउस में काम करने वाले कामगारों की निजी ज़िंदगी और उनके आपसी रिश्तों में चौड़ी होती दरारों को भी सामने लाया गया है। जो वायसराय हाउस ब्रिटिश साम्राज्यवाद की ताक़त का प्रतीक था, उसकी हर चीज का 80 और 20 के अनुपात में बँट जाना ब्रिटिश साम्राज्यवाद की क्षीण होती ताक़त और असहायता के साथ-साथ हिंदुस्तान के दुर्भाग्य का भी व्यंजक है। कामगारों द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले छुरी-काँटों और वाद्ययंत्रों से लेकर किताबें तक इस विभाजन की शिकार दिखाई गई हैं। फ़िल्म के अंतिम सिक्वेंस में विभाजन से जनित सांप्रदायिक हिंसा के भयावह मंजर आज़ादी को लेकर दर्शकों में व्यर्थताबोध तो पैदा करते ही है किंतु साथ ही साथ सत्ता वर्ग के राजनीतिक दाँव-पेंचों की अमानवीयता को भी सामने ला देते हैं। चाहे ब्रिटिश साम्राज्यवाद हो या कांग्रेस और मुस्लिम लीग का शीर्ष नेतृत्व, सब सत्ता के भूखे नज़र आते हैं, किंतु इन बुर्जुआ तबकों के अतिरिक्त समाज का बहुसंख्यक ऐसा तबका भी था, जिसे आज़ादी और विभाजन से सिवाय विस्थापन और मौत के कुछ न मिल पाया। यह फ़िल्म विभाजन की बुर्जुआ राजनीति के साथ-साथ इस राजनीति के विजेताओं द्वारा भुला दिये जाने वाले तद्विषयक सांप्रदायिक दंगों और विस्थापन के कटु यथार्थ को सामने लाने का सफल प्रयास है। हिंदुस्तान के विभाजन से जुड़ी गहन मानवीय त्रासदी को सामने लाने के लिए निर्देशिका गुरिंदर चड्ढा ने प्रभु वर्ग और मातहत वर्ग, दोनों के नज़रियों से

विभाजन की इस त्रासदी को बड़े परदे पर एक बार फिर उतारा है। किंतु प्रभु वर्ग और मातहत वर्ग की कहानियों के बीच में ढंग से तालमेल नहीं बैठ पाया है। प्रभु वर्ग की साम्राज्यवादी राजनीति के साथ मातहत वर्ग के जीवन की विसंगतियाँ ढंग से नहीं उभर पाई हैं। मातहत वर्ग के बीच हिंदू-मुसलिम सांप्रदायिकता एक गहरी खाई पैदा कर देती है और वायसराय हाउस इन दोनों संप्रदायों के कामगारों के पारस्परिक द्वेष और झगड़े का घर बनकर रह जाता है। यद्यपि निर्देशिका ने हिंदू युवक और मुस्लिम युवती के बीच गलदश्रु भावकुता से भरी प्रेम कहानी को भी इसी वायसराय हाउस में जन्म लेते हुए दिखाया है, किंतु यह प्रेम भी उस खाई को पाट पाने में असफल रहता है।

फ़िल्म 1947 के पूर्व के छह महीनों के ब्रिटिश शासन के घटनाक्रम को दृश्यबद्ध करती है। इन छह महीनों में जो भी राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल हिंदुस्तान में हो रही थी, उसे सामने लाने के लिए वायसराय हाउस का इस्तेमाल एक लघु भारत की नुमाइंदगी के रूप में किया गया है। वास्तव में निर्देशिका का आरंभिक उद्देश्य रिचर्ड एटनबरो की फ़िल्म 'गाँधी' (1982) की जैसे एक बड़े कैनवास पर अपनी इस फ़िल्म का निर्माण करना था किंतु बजट की कमी के कारण निर्देशिका को बड़े कैनवास वाली फ़िल्म की योजना छोड़नी पड़ी। बजट की इस सीमा को निर्देशिका ने बड़े ही कलात्मक ढंग से वायसराय हाउस को लघु भारत के प्रतीक के रूप में फ़िल्म के केंद्र में रखकर दूर कर दिया और फ़िल्म के इसी केंद्र बिंदु के आधार पर फ़िल्म का शीर्षक रखा गया है।

जैसा कि पूर्व में उल्लेखित है, 'वायसराय्स हाउस' की कहानी में जिस प्रकार से चर्चिल को विभाजन के लिए उत्तरदायी ठहराकर अंतिम वायसराय लॉर्ड माउंटबेटन के चरित्र की रक्षा का प्रयास किया गया है, वह ऐतिहासिक रूप से सत्य की कसौटी पर खरा नहीं उतर पाता है। लेकिन इस प्रकार की ऐतिहासिक त्रुटियों के बाद भी 'वायसराय्स हाउस' की भव्यता दर्शकों को बाँधने वाली है। वैसे विभाजन के संदर्भ में माउंटबेटन, नेहरू और जिन्ना के चरित्र फ़िल्म में बड़े सरलीकृत ढंग से प्रस्तुत

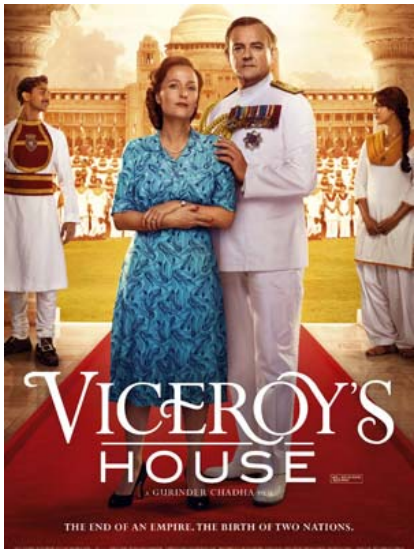

किये गये हैं। हग बोनेविले द्वारा अभिनीत माउंटबेटन का किरदार बड़ा मासूम-सा नज़र आता है। फ़िल्म दिखाती है कि माउंटबेटन दिल से चाहते थे कि नेहरू और जिन्ना अविभाजित हिंदुस्तान के संविधान पर अपनी स्वीकृति दे दे। किंतु यह निष्पाप भला अंग्रेज़, हिंदुस्तान के झगड़ालू राजनेताओं के आपसी द्वंद्व में फँसकर रह जाता है। और ऊपर से उसे एक बड़े ब्रिटिश षड्यंत्र के हाथों की कठपुतली दिखा निर्देशिका ने उसके प्रति दर्शकों की सहानुभूति जगाने की कोशिश की है। इस संदर्भ में निर्देशिका की सचेतन कोशिश रही है कि स्वाधीनता आंदोलन का जिक्र 'वायसराय्स हाउस' की कहानी में ज्यादा न आये क्योंकि उस स्थिति में दर्शक की सारी सहानुभूति साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्षरत आज़ादी के दीवानों को मिल जाती।

विभाजन पर आधारित 'गदर : एक प्रेम कथा' जैसी फ़िल्मों के विपरीत इस फ़िल्म का बल पर्दे पर हिंदू-मुस्लिम समुदायों के बीच प्रत्यक्ष सांप्रदायिक संघर्ष दिखाने पर नहीं है; अपितु यह फ़िल्म इस सांप्रदायिक संघर्ष की सूचना देकर उसकी भयावह त्रासद परिणतियों पर ही मुख्यत: केंद्रित रहती है। विभाजन की हिंसा को दिखाने का यह नज़रिया व्यावसायिक सिनेमा की जैसे दर्शकों को धर्म और राष्ट्रवाद के नाम पर उत्तेजित करने वाला नज़रिया नहीं है। सांप्रदायिक हिंसा के परिणामस्वरूप होने वाली जन-धन की भयावह क्षति सामने लाकर यह फ़िल्म दर्शकों के अंदर सांप्रदायिक हिंसा और विभाजन की राजनीति के प्रति नफ़रत और घृणा पैदा करती है। सांप्रदायिक हिंसा और विभाजन की राजनीति के ख़िलाफ़ दर्शकों को उद्वेलित करने वाली यह दृष्टि एक महिला निर्देशिका की दृष्टि है और इसी दृष्टि के कारण यह फ़िल्म पुरुष निर्देशकों द्वारा विभाजन पर बनाई गई व्यावसायिक फ़िल्मों से जुदा-जुदा सी है।

यद्यपि यह फ़िल्म हिंदुस्तान के विभाजन की तात्कालिक परिस्थितियों पर केंद्रित है किंतु विभाजन के सत्तर साल गुज़र जाने के बाद भी आज यह फ़िल्म हमारे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों परिप्रेक्ष्यों में प्रासंगिक है। विभाजन के दौरान जिस वृहद स्तर पर ख़ून-ख़राबा हुआ और जिस पैमाने पर विस्थापन हुआ, उसके कारण सांप्रदायिकता एक गाली बन गई थी; किंतु आज भ्रष्टाचार के लोकप्रिय मुद्दे के बहाने सत्ता हथियाकर जिस प्रकार से सांप्रदायिक ताक़तें सेक्युलर लोकतंत्र के हमारे आदर्शों को मटियामेट कर देने में लगी हैं, उससे सांप्रदायिकता और विभाजन का वो काला अध्याय स्वयं को दोहराता दिख रहा है। सत्ता की शह पाकर कतिपय ताक़तों द्वारा खड़े किए जा रहे असहिष्णुता के इस भयावह माहौल में विभाजन के उस रक्तिम दौर को पुन: याद करना ज़रूरी हो जाता है; ताकि लोग जान सकें कि उस दौर में धर्म के नाम पर फैलाए गये उन्माद ने 10 से 20 लाख लोगों की जानें ले ली थी और डेढ़ करोड़ के आसपास लोगों को सदा के लिए उनके घर से बेदखल कर दिया था। संभव है कि विभाजन की अमानवीय परिणतियों को पर्दे पर देखकर लोगों की आँखें खुल सकें। किंतु फ़िल्म में दिखाई गई हिंदू युवक और मुस्लिम युवती के बीच की प्रेम कहानी धर्म और सभ्यता के नाम पर फैलाई जाने वाली हिंसा और नफ़रत के इस काले दौर में भी उम्मीद की एक रोशनी की भाँति सामने आती है।

❐❐❐

डॉ. प्रमोद मीणा, सह आचार्य (एसोसिएट प्रोफेसर), हिंदी विभाग, मानविकी एवं भाषा संकाय, महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी (बिहार) - 845401, दूरभाष - 7320920958, pramod.pu.raj@gmail.com

शिवना प्रकाशन : नए सेट की पुस्तकें

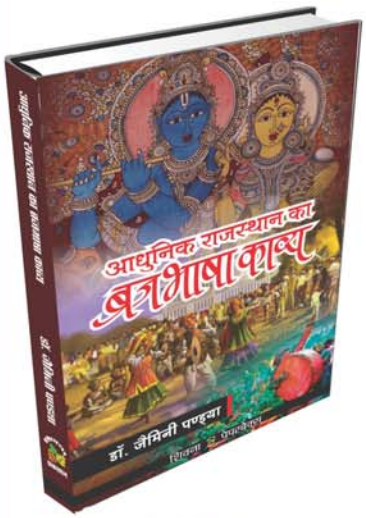

समीक्षक डॉ. जैमिनी पण्ड्या द्वारा राजस्थान के ब्रजभाषा काव्य पर महत्त्वपूर्ण पुस्तक-
आधुनिक राजस्थान का ब्रजभाषा काव्य
मूल्य : 450 रुपये
पेपरबैक संस्करण

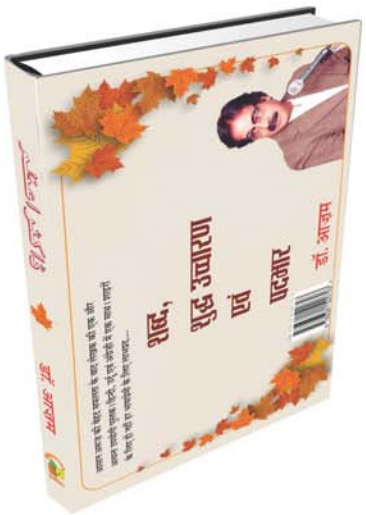

डॉ. आज़म की ग़ज़ल के व्याकरण पर एक ज़रूरी किताब-
शब्द, शुद्ध उच्चारण एवं पदभार
मूल्य : 350 रुपये
सजिल्द संस्करण

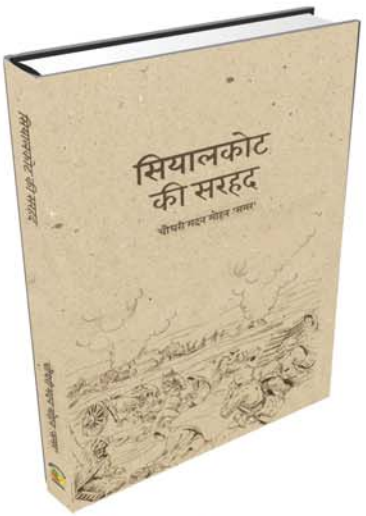

भारत पाकिस्तान के युद्ध पर केंद्रित सुप्रसिद्ध कवि चौधरी मदन मोहन समर का चर्चित खण्ड काव्य-
सियालकोट की सरहद
मूल्य : 220 रुपये
सजिल्द संस्करण

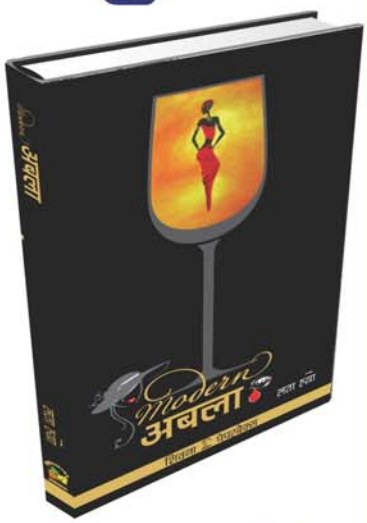

सुप्रसिद्ध शायरा, कवयित्री तथा अभिनेत्री लता हया की आधुनिक कविताओं का संग्रह-
मॉडर्न अबला
मूल्य : 220 रुपये
पेपरबैक संस्करण

युवा लेखक राजेश सोनवार का प्रेम तथा जीवन के द्वंद्व की पृष्ठभूमि पर लिखा गया उपन्यास-
दो जुलाई दो हज़ार पाँच
मूल्य : 200 रुपये
पेपरबैक संस्करण

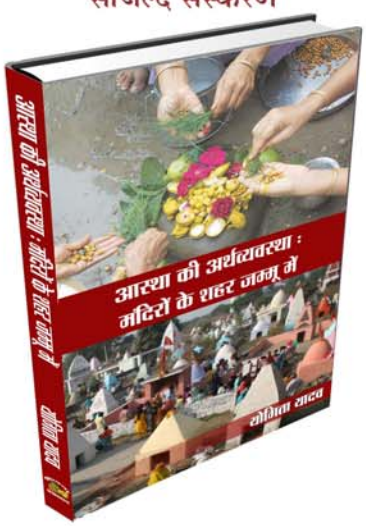

हिन्दी की प्रसिद्ध कथाकार एवं पत्रकार योगिता यादव द्वारा जम्मू के धार्मिक रीति-रिवाज़ों पर पुस्तक-
आस्था की अर्थव्यवस्था
मूल्य : 200 रुपये
सजिल्द संस्करण

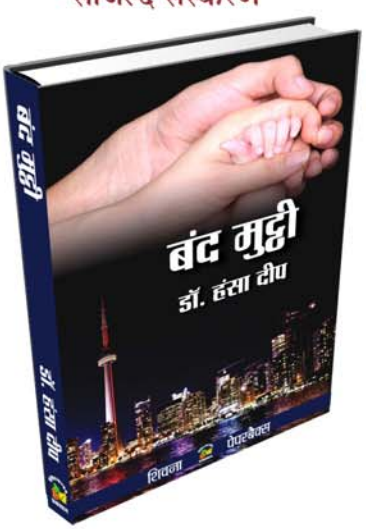

कैनेडा निवासी डॉ. हंसा दीप द्वारा मानवीय संबंधों के ताने-बाने पर लिखा गया एक रोचक उपन्यास-
बंद मुट्ठी
मूल्य : 275 रुपये
पेपरबैक संस्करण

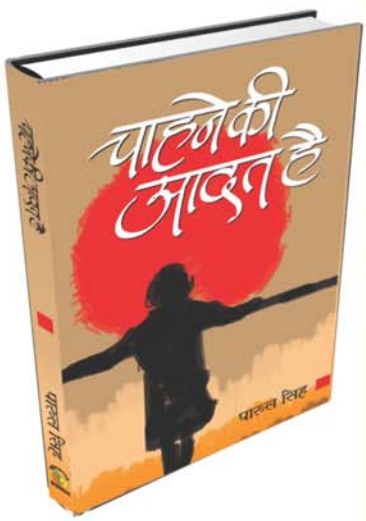

सुप्रसिद्ध शायरा, कवयित्री तथा समीक्षक पारुल सिंह की आधुनिक कविताओं का संग्रह-
चाहने की आदत है
मूल्य : 200 रुपये
सजिल्द संस्करण

शिवना प्रकाशन

शिवना प्रकाशन, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने सीहोर, मध्य प्रदेश 466001
फोन : 07562-405545, 07562-695918
मोबाइल : +91-9806162184 (शहरयार)
ईमेल : shivna.prakashan@gmail.com
http://shivnaprakashan.blogspot.in
https://www.facebook.com/shivna.prakashan

शिवना प्रकाशन की पुस्तकें सभी प्रमुख ऑनलाइन शॉपिंग स्टोर्स पर

amazon http://www.amazon.in
flipkart.com http://www.flipkart.com
paytm https://www.paytm.com
ebay http://www.ebay.in

दिल्ली में पुस्तकें प्राप्त करें : हिन्दी बुक सेंटर, 4/5 आसफ अली रोड
फोन : 011-23286757 http://www.hindibook.com

शिवना प्रकाशन : पुस्तकों के नए संस्करण

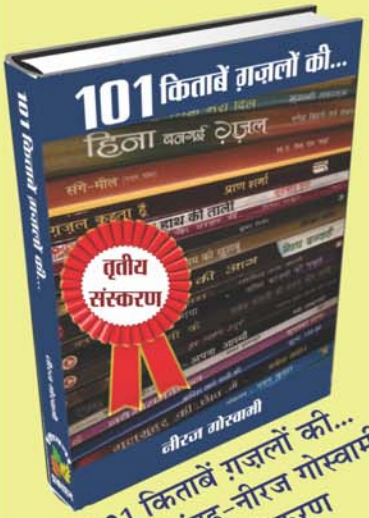

101 किताबें ग़ज़लों की...
समीक्षा संग्रह-नीरज गोस्वामी
तीसरा संस्करण

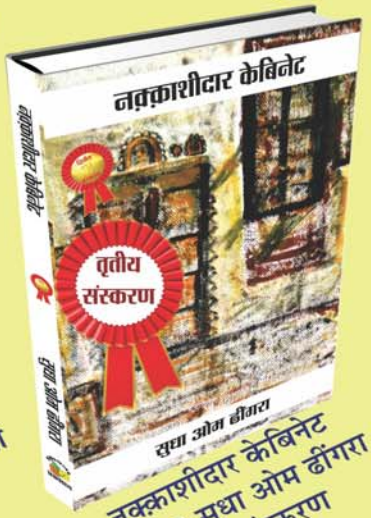

नक़्क़ाशीदार केबिनेट
उपन्यास-सुधा ओम ढींगरा
तीसरा संस्करण

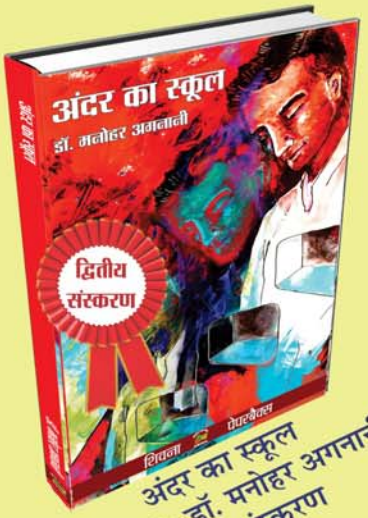

अंदर का स्कूल
संस्मरण -डॉ. मनोहर अगनानी
दूसरा संस्करण

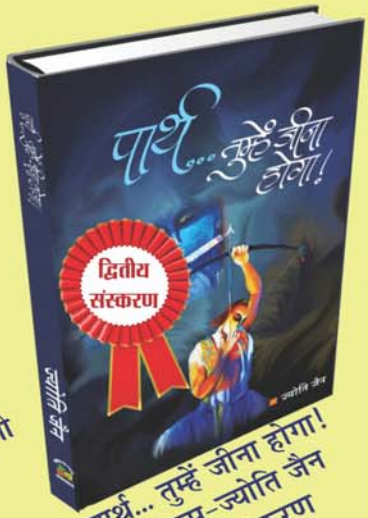

पार्थ... तुम्हें जीना होगा!
उपन्यास-ज्योति जैन
दूसरा संस्करण

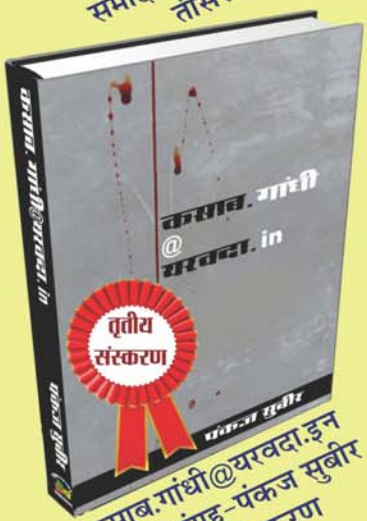

कसाब.गांधी@यरवदा.इन
कहानी संग्रह-पंकज सुबीर
तीसरा संस्करण

दस प्रतिनिधि कहानियाँ
कहानी संग्रह-सुधा ओम ढींगरा
तीसरा संस्करण

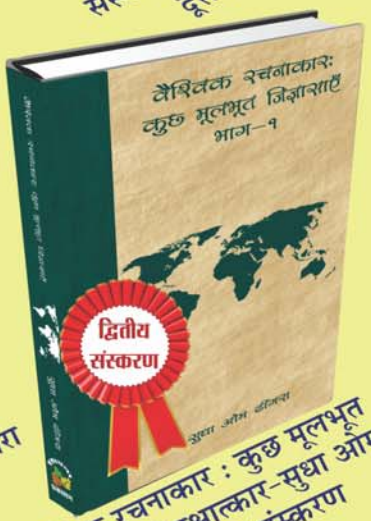

वैश्विक रचनाकार : कुछ मूलभूत
जिज्ञासाएँ, साक्षात्कार-सुधा ओम
ढींगरा, दूसरा संस्करण

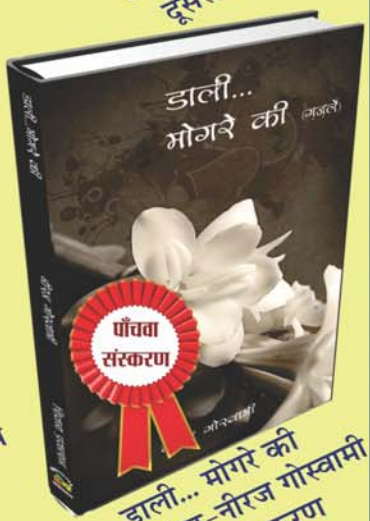

डाली... मोगरे की
ग़ज़ल संग्रह-नीरज गोस्वामी
पाँचवा संस्करण

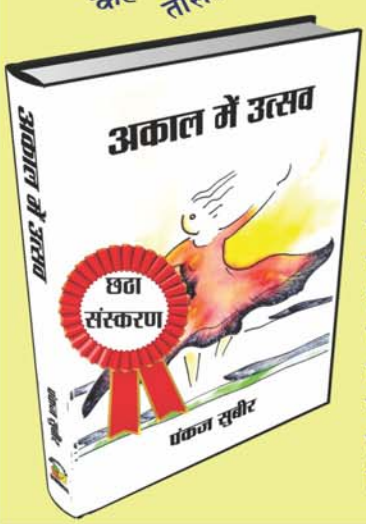

अकाल में उत्सव
उपन्यास-पंकज सुबीर
छठवाँ संस्करण

बीते वर्ष के सबसे चर्चित उपन्यास अकाल में उत्सव के डेढ़ वर्ष में चार हार्ड बाउंड तथा दो पेपरबैक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। किसानों की आत्महत्या पर एक दस्तावेज़ की तरह इस उपन्यास को निरूपित किया गया है। इस उपन्यास का नाट्य रूपांतरण तथा मंचन हो चुका है तथा फ़िल्म के लिए पटकथा लिखी जा रही है।

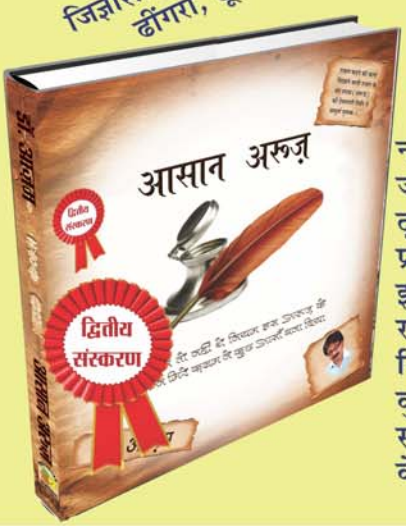

आसान अरूज़
ग़ज़ल व्याकरण-डॉ. आज़म
दूसरा संस्करण

नव ग़ज़लकारों के लिए सबसे ज़रूरी पुस्तक आसान अरूज़ का दूसरा तथा परिवर्धित संस्करण प्रकाशित हो गया है। बहरों, इल्मे-अरूज़, ऐब, क़ाफ़िया, रदीफ़ के बारे में उदाहरण देते हुए विस्तार के साथ चर्चा की गई है। कुछ नए अध्याय भी इस दूसरे संस्करण में जोड़े गए हैं। हर शायर के लिए ज़रूरी पुस्तक है यह।

If Undelivered Please Return to :
P. C. Lab, Shop No. 3-4-5-6, Samrat Complex Basement, Opp. Bus Stand, Sehore, M.P. 466001
Phone 07562-405545, 07562-695918, Mobile 09584425995, 07828313926, 09806162184

स्वत्वधिकारी एवं प्रकाशक पंकज कुमार पुरोहित के लिए पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मध्य प्रदेश 466001 से प्रकाशित तथा मुद्रक ज़ुबैर शेख़ द्वारा शाइन प्रिंटर्स, प्लॉट नं. 7, बी-2, क्वालिटी परिक्रमा, इंदिरा प्रेस कॉम्प्लैक्स,ज़ोन 1, एम पी नगर, भोपाल, मध्य प्रदेश 462011 से मुद्रित।